THE BOOK WAS DRENCHED

UNIVERSAL
LIBRARY
OU_180137
UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 83·1/M 68 R Accession No. H. 2717

Author मिश्रा, उमादेवी

Title रात का सवेरा

This book should be returned on or before the date last marked below.

रात की रानी

(ग्यारह कहानियों का संग्रह)

लेखिका

श्रीमती उषादेवी मित्रा

प्रकाशक

श्रीअजन्ता प्रेस लिमिटेड

नयाटोला :: पटना ४

मूल्य २)

मुद्रक

श्री मणिशंकर लाल

श्रीअजन्ता प्रेस लिमिटेड, पटना ४

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
मनका दीप	१
छद्मवेशी	१३
सती	३६
नग्न सत्य	४६
एप्रिल फूल	५२
जानवरों का देश	६४
लेखक	७६
आरती	८२
स्मृति की पूजा	९७
सोलहा बेचल मालिनियाँ रे !	१११
लेखक की समस्या	१२३

मन का दीप

(१)

उसका जन्म ही वेश्या के गृह में हुआ था अथवा संसार ने उसे वेश्या बना दिया था सो कह सकना कठिन है। हाँ, सो थी वह बनारस की प्रसिद्ध वेश्या ही। मजे की बात तो यह है कि नाम रहा है उसका सावित्री। सत्यवान की सावित्री नहीं, पति को जीवन-दान देनेवाली सावित्री नहीं। बनारस की नाच, गान के लिए लब्ध-प्रतिष्ठ सावित्री।

कभी कोई हँसी में कह उठता—"वाह वाह, क्या मजे का नाम रख दिया गया है तुम्हारा ? कहाँ वह सावित्री सती और कहाँ तुम वेश्या, एकदम उलटा। सम्पूर्ण अनमेल।

तब सावित्री गम्भीर भावुकता से उत्तर देती, "अनमेल पर ही दुनियाँ टिकी हुई है न, महाशय !" फिर ह्विस्की का ग्लास मुँह से लगा लेती।

दुनियाँ को लूटना उसने सीखा था। मिथ्या, प्रवञ्चना, प्रेमाभिनय से मनुष्य का रक्त शोषण करना उसका काम था।

मेहदी रंगीन बनो, हाव-भाव से एक प्रलोभन फैलाया करती। उसके भक्तगण उसके वन्दना-गान से उसे स्वर्ग में चढ़ाया करते।

वैसी एक सावित्री उस दिन पहुँची थी कलकत्ता शहर में। बनारस से वह कलकत्ते के एक सेठजी के घर मुजरा के लिए बुलाई गई थी।

स्टेशन पर ट्रेन रुकी। कई व्यक्तियों के साथ वह लपकती हुई उतर पड़ी। उसके प्रधान भक्त जमींदार देवेन्द्र ने उसे हाथ का सहारा देकर उतारा। प्लेटफार्म पर उसे ले जाने के लिए कई व्यक्ति उपस्थित थे। बाहर फिटन खड़ी थी। देवेन्द्र और सावित्री दोनों उस पर बैठ गये। बाकी सब लोग दूसरी गाड़ी पर। देवेन्द्र के गंभीर मुख के प्रति निहारती सावित्री हँसी से मचलने लगी। चुटकियाँ बजाकर कहने लगी—"गई, अब देवेन्द्र की सावित्री लुट गई।"

"जिसके पास पैसे हैं उसे ऐसी पचासों सावित्रियाँ मिल जावेंगी।"—अत्यधिक क्रोधित था देवेन्द्र। उसी दिन से नहीं वरन् जब से सावित्री के कलकत्ते आने की बात चली थी तभी से वह इसका विरोध कर रहा था कि "नहीं, वहाँ जाने की कोई जरूरत नहीं है। मैं तुम्हें कहीं पर भी जाने देना पसन्द नहीं करता।"

सावित्री ने अहंकार से उत्तर दिया था—"क्या मैं तुम्हारी खरीदी हुई बाँदी हूँ? क्यों न जाऊँ? ईश्वर खूबसूरती

देता है दिखलाने के लिए। मैं अपनी खूबसूरती दुनियाँ को क्यों न दिखलाऊँ ?"

"ऐसा ? तो सुन्दरता दिखलाने की चीज होती है ?"

"जरूर। सुन्दर ही दुनियाँ में जयी हो सका है; असुन्दर, कुरूप नहीं।"

"फिर कुरूप कहाँ जायँ ?"

"चाहे जहाँ जायँ। उनकी परवाह कौन करता है ?"

हाँ, यों बातें करते हुए वे दोनों तब बनारस का पथ अतिवाहित कर रहे थे। एक कुत्ते के पैर पर से उन्हीं की कार का पहिया निकल गया। कुत्ता यातना से चिल्लाने लगा। उस करुण चीत्कार से पथ-यात्री तक खड़े हो गये।

देवेन्द्र दया से आर्द्र हुआ—"रोको-रोको! बेचारा कुत्ता दब गया, उसे अस्पताल पहुँचा दें।"

सावित्री झुँझला पड़ी—"मेरी कार पर मरता हुआ कुत्ता, तुम पागल हो गये हो क्या ?"

"बेचारा मर रहा है सावित्री, !"

"तो मैं क्या करूँ ? उस बदसूरत कुत्ते का मरना ही अच्छा है।"

"नहीं-नहीं, गाड़ी रोको !"

"मत रोको गाड़ी !"

"सचमुच तुम बड़ी कठोर हो, बहुत घमण्डी हो, सावित्री !"

यह सब थी उस दिन की बात।

देवेन्द्र की बातों पर सावित्री अग्नि-सी प्रज्ज्वलित हो उठी—"तुम्हारे पैसे पर मैं थूकती हूँ।"

और तब ठीक उसी दिन की तरह कहने लगा देवेन्द्र—"वास्तव में तुम कठोर हो, पत्थर-जैसी कठोर और हो वैसी ही घमण्डी, मन-हृदय कहकर कोई वस्तु तुम्हारे पास नहीं है।"

"कठोर, हृदयहीना।"—इठलाकर कहने लगी सावित्री—"यह सब तो मन की कमजोरी है। मैं हूँ और है मेरा रूप तथा यौवन। इससे आगे कुछ नहीं जानती। जानने की मुझे जरूरत भी नहीं है।"

देवेन्द्र चुप हो गया—एकदम चुप। उस मौनता में इस नारी के प्रति तिल-तिलकर अश्रद्धा, विरक्ति जमने लग गई। स्मरण हो गई उस एक दिन की बात। एक कोढ़ी भिखारी द्वार पर खड़ा था, जब उतरी थी कार से सावित्री। उसे देखकर घृणा से उसने मुँह फेर लिया था। कहा था—"दूर हो, कुत्सित चेहरे की छाया मेरी सुन्दर आकृति पर मत डालो!"

और फिर भी उसे विनय करते देखकर दरबान से कहा था—"उसे धक्के देकर दूर करो।"

तब देवेन्द्र ने शीघ्रता से एक दस का नोट भिखारी को देकर विदा किया। उस दान पर जाने कितने ही दिनों तक सावित्री परिहास करती रही। फिर एक और दिन की बात। भूकम्प-पीड़ितों के लिए और पंजाब, बंगाल के हिन्दू मुसलमान झगड़े में आश्रय-विच्युत जनों के लिए सहायता माँगने

कुछ सज्जन उसके दरवाजे आये थे। उन असहायों की दुखद कहानी सुनकर सावित्री परिहास से बोली थी—"मेरे पैसे ऐसे कामों के लिए नहीं हैं, वे लोग मरते हैं तो मरने दो। उनके साथ मैं क्यों भिखारिन बनने को बैठूँ ?"

(२)

सुबृहत् कलकत्ता नगरी का प्रशस्त राजपथ जनाकीर्ण था। दोनों ओर अट्टालिकाएँ, दूकानें और पथ के फुटपाथों पर दुर्भिक्ष-पीड़ित नर-नारी, शिशु-वृद्ध, नरकंकाल से, मृत्त एवं अर्द्धमृत्त, नग्न एवं अर्द्ध-नग्न अवस्था में।

गाड़ी की गति मन्द हुई। पथ में दुर्भिक्ष-पीड़ित क्षुधातुर मनुष्य और आते चीत्कार। एक गंभीर उदासी, आतंक व्यापा हुआ था कलकत्ते पर।

सावित्री के नेत्रों के सामने सहसा विश्व का यह कौन-सा कठोर, कौन-सा भयानक दृश्य उपस्थित हो गया है ? मनुष्य-जीवन की यह कौन-सी दुःख की, क्षुधा की वार्ता खुल पड़ी है ? पहले तो वह सिहर उठी, उस ओर से आँखें फेर लीं, कदाचित घृणा से। उस ओर न देखने की प्रतिज्ञा की। किन्तु फिर न जाने क्यों उसकी आँखें अपने-आप उसी ओर को जाने लगीं और अपलक नेत्रों से वह देखने लगी।

उसके सामने मनुष्य के मृत्त, अर्द्धमृत्त शरीर थे, जिनकी आँखें अन्दर को धँस गई थीं। मुँह की हड्डियाँ उठी हुई थीं, शरीर काला पड़ रहा था, किसी की जीभ बाहर को

निकल आई थी और कोई दयार्द्र किसी मृत्यु पथ-यात्री के मुँह में बूँद-बूँद कर पानी डाल रहा था। कहीं ठेलों पर मृतकों के शव लादे जा रहे थे।

गाड़ी आगे बढ़ी। इस बार सावित्री अस्फुट स्वर से चीत्कार कर उठी। एक वृद्धा नारी पड़ी हुई थी। एक कुत्ता उसके मुख से कुछ खींच रहा था। कदाचित वृद्धा के मुख में कोई भोग्य वस्तु रही हो। और उसके क्षुधा-पीड़ित, अशक्त शरीर में कुत्ते को हटाने की शक्ति न रही हो।

"क्या बात है ?"—विस्मय से देवेन्द्र ने पूछा।

"मैं यह देख नहीं सकती।"

"क्या ?"—देवेन्द्र समझा नहीं।

"यह—यह—भयानक दृश्य !"

अवहेलना से देवेन्द्र ने कहा—"यह लोग ? यह सब तो भूख के मारे हैं, दुर्भिक्ष-पीड़ित हैं। कलकत्ते की दशा ज्यादा खराब है न। यहाँ अन्न नहीं, वस्त्र नहीं और फिर ऐसा तो हुआ ही करता है, सावित्री !"

गाड़ी उस स्थान से आगे बढ़ी, जहाँ गृहस्थों के रसोईघर की नालियों पर नर-नारियों की भीड़ थी। कोई नाली के निकट मुँह खोलकर पड़ा हुआ था, कोई बैठा, या कोई हाथ पसारे। जैसे नाली ही हठात् अन्नदाता बन गई हो। वे सब एक दूसरे को हटाकर स्वयं नाली तक पहुँचने की चेष्टा कर रहे थे।

'ँ क्या हो रहा है ?'—सावित्री का स्वर अद्भुत सुन पड़ा।

"यहाँ ये लोग भात के माड़ के लिए जमा हुए हैं। माड़, जूठन इत्यादि। यह सब रसोईघरों की नालियाँ हैं न !"

विवर्ण मुख से सावित्री ने पूछा—"गरम माड़ से इनका मुँह नहीं जल जायगा ?"

"परन्तु पेट को शान्ति तो मिल जायगी; अन्ततः एक दिन और जी सकेंगे न !"

इस बार वह दृश्य था जिसे देख सकना, सहन करना सावित्री-जैसी कठोर, स्वार्थी वेश्या के लिए भी असम्भव हो उठा। नारी का मृत्त शरीर पड़ा हुआ था, हजारों मक्खियाँ उस पर भिनभिना रही थीं और एक शिशु उसके सूखे स्तन को चूस रहा था। सावित्री एकदम चीत्कार कर उठी—"लौटाओ गाड़ी स्टेशन पर, लौटो-लौटो !"

निविड़ विस्मय से देवेन्द्र अवाक् रहा, फिर बोला—"आज क्या बात हो गई ?"

"ऐसे दृश्यों को नहीं देख सकती—नहीं नहीं, दुनियाँ के हर्ष को, खुशी को विश्व की दरिद्रता ने चूस लिया है, निगल लिया है। कामदत्ता नर रक्त पिपासा राक्षस है, लौटाकर ले चलो मुझे बनारस।" देवेन्द्र जोर से हँसा, बोला—"यह बात ? मैं कहूँ, न जाने क्या हो गया। अजी, ऐसा तो हुआ ही करता है। घर के अन्दर आमोद-खुशी की बाढ़ में बहती रहती हो, क्या जानो तुम ? इस वक्त प्रायः सब देशों में अकाल है, गरीबी है

यहाँ कुछ ज्यादा है, बस। हाँ, आज कौन-सा राग गाओगी ?" देवेन्द्र जरा उससे सटकर बैठ गया।

न जाने क्यों देवेन्द्र का निकटत्व उस समय सावित्री को जहर-सा लगा। उसने उसे ठेल दिया।

निर्लज्ज की भाँति हँसता हुआ देवेन्द्र कहने लगा—"कलकत्ते में एक-से-एक बढ़िया औरतें हैं। कल तुम्हें उधर भी सैर करा लाऊँगा।" परन्तु सावित्री के कानों तक शायद ही वे शब्द पहुँचे हों। उस समय वह आँखें फाड़-फाड़कर उस आतंकित दृश्य को देख रही थी। फुटपाथ पर भूखा शिशु मृत्यु-यातना से तड़प रहा था और माता प्रस्तर मूर्त्तिवत् बैठी उसे देख रही थी।

"रोको-रोको !"—सावित्री जोर से कह उठी।

"तुम तो आज छोटी-सी बच्ची बन गई हो, सावित्री !"

सावित्री ने उस बात पर भ्रूक्षेप भी न किया।

तब ? कदाचित् भाव, विलासमयी प्रेयसी के अन्तर में बैठी हुई नारी तब हठात् ही अपने नारीत्व की महिमा में जाग पड़ी हो और कदाचित् उस नारी ने माता की मनोवृत्ति को सजग कर दिया हो। तिलतिल में नहीं, पल-पल में नहीं, एकान्त की हठात्, एकान्त की सहसा।

गाड़ी तब रुक भी न पाई थी कि सावित्री कूदकर उतर पड़ी, माता के निकट पहुँच गई, मनीबेग खोलकर नोटों का बण्डल

निकाला और बोली—"बहिन, यह रुपये लो, अपने बच्चे को बचाओ।"

क्षीणकंठ से उत्तर आया—"रुपए लेकर क्या करूँगी? इस शहर में अन्न नहीं है, मुट्ठी भर चावल के लिए दूकानों पर रोज कितनों की मौत होती है, किन्तु फिर भी लोग मृतप्राय दूसरे के शरीरों को रौंदते हुए चले जाते हैं दूकानों पर।"

सावित्री के नेत्रो के सामने विस्मय का अगाध समुद्र था। पैसा देकर भी अन्न नहीं? यह कैसी विचित्र बात है? शस्य-श्यामला भारतवर्ष की उपज को कौन से महादैत्य ने निगल लिया?

सावित्री पैदल ही आगे बढ़ी, वैसे दृश्य पथ पर अनेक थे। वह दोनों हाथों से रुपए बाँटती हुई चलने लगी। एक बृहत् अट्टालिका के सामने भीड़ थी, उसने झाँक कर देखा।

बच्चों को गोद में लिए स्त्रियाँ अन्दर प्रवेश कर रही थीं। प्रत्येक आगे जाना चाहती थी। "यहाँ पर क्या अन्न बाँटा जा रहा है?" पूछा सावित्री ने।

"नहीं बहन, यह अनाथालय है, हम अपने-अपने बच्चे को देने आई हैं।"

"अपने ही बच्चे को और अपने ही हाथों?"

"हाँ, यहाँ अन्ततः उन्हें भूखों तो नहीं मरना पड़ेगा। चम्मच भर दूध, थोड़ा-सा भोजन तो मिल ही जायगा न! हमें अपने ही बच्चों को भूखे तड़प-तड़पकर मरना तो नहीं देखना पड़ेगा। स्तम्भित थी सावित्री!

जब सावित्री गन्तव्य स्थान पर पहुँची तब उसका मनीबेग बिलकुल खाली था।

× × ×

सेठजी का बड़ा-सा मकान, महफिल भरी हुई थी। तकिए से टिके हुए लोग बैठे हुए थे। बीच में सारंगी, तबला आदि बजानेवालों के साथ सावित्री बैठी हुई थी। दरवाजे, खिड़कियाँ खुली थीं. सामने प्रशस्त राजपथ, पथ पर सेठजी के घर की उच्छिष्ट पतरियों का ढेर, वहाँ पर भूखों की भीड़ थी। पतरियों पर हजारों मनुष्य झुके हुए थे। एक तीव्र कोलाहल था।

"तेरा चंचल नयन"—गा रही थी सावित्री। सावित्री गा रही थी सो ठीक था, इठलाना चाहती. वह भी गलती नहीं थी, परंतु उसके गान में चिर-स्फूर्ति की जैसे मौत-सी हो चुकी थी; वह चंचलता, मादकता नहीं थी, जिससे कि बनारस के श्रोता-गण अपने-आप को भूल जाते थे। अपना सर्वस्व उसे देकर स्वयं पथ के भिखारी बन जाते थे।

उस गान को सुनकर खुशी नहीं, एक विस्मय, क्षुब्धता से देवेन्द्र कह उठा—अपने एक मित्र से—"आज बाईजी को हो क्या गया है। अपनी सुरीली आवाज को सावित्री कहाँ खो आई ?"

विमल, अभय आदि भी कम विस्मित नहीं थे, बोले—"यही बात हम भी सोच रहे हैं। कलकत्ते में आकर हमारी

बाईजी को क्या हो गया ? बनारस की सावित्री को किसने लूट लिया ?"

"रामसिंह, धन्नू सिंह !"—सेठजी ने आवाज लगाई। दरवानगण पहुँच गये।

"देखो, यह हल्ला कैसा है ?"

"बाहर जूठन पर भिखमंगों क्या हुजूम है, हुजूर !"

"मारो, उन्हें मारकर भगाओ।"

आज्ञा पाते ही भृत्यगण लाठी लेकर उसपर टूट पड़े और तब तुमुल काण्ड आरम्भ हो गया। एक ओर था क्षुधार्थियों की अति चीत्कार, दूसरी ओर धन गर्व मूर्ख का प्रहार।

सावित्री का स्वर कंठ ही में कब दब गया था और नृत्यशील पैरों की गति कब रुक गई थी सो वह जान न सकी सेठजी के उस कहने से—"तुम गाओ बाईजी, मैं खुद जाकर उन बदमाशों को भगाता हूँ।"

घृणापूर्ण नेत्र एकबार सावित्री ने उठाये। जिस दुनियाँ से दो दिनों से उसका परिचय हो रहा था, वह दुनियाँ उसके लिए सम्पूर्ण नवीन तथा हृदयस्पर्शी थी। इस दुनियाँ की भावना, कल्पना तक उसकी परिचित दुनियाँ में नहीं थी। सोच रही थी वह—उस रंगीन दुनियाँ में एक ऐसी दुनियाँ अबतक कहाँ छिपी हुई थी ?

तब तक छड़ी घुमाते हुए सेठजी बाहर निकल गये।

"रोको—रोको !"

उस आवाज से सेठजी की छड़ी हाथ से गिर पड़ी। उसने आँखें उठाकर देखा—उन्मादिनी-सी सावित्री उन व्यक्तियों के बीच में खड़ी कह रही थी—"भाइयो और बहिनो, इस चाण्डाल का अन्न मत छुओ। यह जूठन उसी के लिए छोड़ दो। लो, मेरे पास जो कुछ है, वह लेते जाओ।" यह कहकर सावित्री अपने अलंकारों को खोल-खोलकर उनलोगों की तरफ फेंकने लगी। सेठजी का रक्त गरम हो उठा, कहा—"मेरे निमन्त्रित लोग भीतर बैठे हुए हैं, वक्त निकलता जाता है, इनलोगों से आप पीछे मिल सकती हैं, मैं आपको रुपये पहले दे चुका हूँ।" उसने नोटों का बण्डल निकालकर सेठजी के आगे फेंक दिया। फिर शेष पैसा तक उन सब को देकर पैदल स्टेशन चल पड़ी।

× × ×

बनारस की जनता कहती, सावित्री सनकी हो गई है। देवेन्द्र का कहना था, कलकत्ता शहर ने सावित्री बाईजी को लूट लिया है।

सखी-सहेलियाँ कहा करतीं—"यह एक फैशन है जो कि सावित्री कलकत्ते से सीखकर आई है। उसकी माँ कहती—"मेरी बेटी पर बंगाल के जादूगर ने जादू कर दिया है।

सावित्री जरा-सा हँस देती और बस। उसके मन में हठात् ही जो उज्ज्वल दीप जल उठा था, वह दीप शायद संसार की समालोचना पर उदास होना भी नहीं चाहती।

छद्मवेशी

वहाँ दिन के कोलाहल में रात नहीं जागती और रात की विश्रांति में दिन नहीं समाता। रात सोती विश्व की गोद में, दिन रहता सूर्य के पलने में। एक रहस्य, एक पहेली, नहीं किन्तु न परन्तु, किन्तु प्रभात की कल्पना इन सब को भी लाँघ जाती। फिर लेखक ही तो ठहरा न वह! वास्तविक जीवन के खून की लकीर खींचना, कल्पना द्वारा वास्तविकता का विश्लेषण करना, यही काम था न उसका!

लिखता और खूब लिखता प्रभात, किन्तु हाँ, एक किन्तु रह ही जाती। कहानी और उपन्यास लिखकर वह सन्तुष्ट नहीं होता।

क्यों? अरे क्यों? वह मन को पूछता—क्यों—ऐसा क्यों? अभिज्ञता का अभाव। उत्तर मिल जाता। हाँ, सच ही तो है, चाहे कैसा भी विद्वान् क्यों न हो वह, कितनी

ही पुस्तकें क्यों न पढ़ ली हों उसने, परन्तु प्रत्यक्ष अभिज्ञता, जानकारी उसकी है भी कहाँ और कितनी-सी ?

तब धीमा-धीमा पानी बरस रहा था। पुराना भृत्य सुखदेव प्रभु के लिए पान लाकर अवाक् हो रहा—उस पोशाक को देखकर। सिल्क के पंजाबी और महीन धोती के स्थान में घुटने तक मोटी धोती और खद्दर का कुरता पहने प्रभात खड़ा था। किन्तु जब उसने प्रभात के फैशनेबुल बालों को ग्रामीणों की भाँति कटे हुए पाया तब सहसा सुखदेव के मुँह से निकल गया—"भैया जी, सनक तो नहीं गये हैं ?"

असम्भव गंभीर स्वर से प्रभात ने कहा—"मैं एक भारी काम से बाहर जा रहा हूँ। सात-आठ दिन में लौटूँगा। समझे ?"

और फिर सुखदेव के दूसरा प्रश्न करने से पहले वह निकल गया। रिक्शा पर बैठ कर स्टेशन की ओर चल पड़ा।

सुखदेव ने सिर हिलाया—हाँ, भैया जी जरूर ही सनक गये हैं। वरना वैसा शौकीन आदमी ऐसा गँवारों का-सा कपड़ा पहन सकता है। और सनक जावें नहीं तो क्या, दिन रात लिखना-पढ़ना, दिमाग पर जोर, कहाँ तक दिमाग काम देवे ? मालिक हो तो ऐसा हो। बड़ा खुशमिजाज आदमी है, वैसा ही खर्चीला, आखिर पागल हो गया। यहाँ अकेले हैं। घर में माँ-बहन सब हैं। जरा और देख लूँ तो घर में खबर भेजना पड़ेगा। बड़ा भला आदमी है, बेचारा। पैसे-

रुपये को तो हाथ का मैल समझता है। खड़ा-खड़ा सुखदेव सोचने लगा।

उस ग्राम में प्रभात इससे पहले एकबार और भी आ चुका था। पर यात्री होकर केवल एक दिन के लिए वह आया था। प्रभात ने न कुछ सोचा और न विचारा। पहले ही जिस किसान का घर मिला उसी के दरवाजे पर जाकर खड़ा हो गया। गृह-स्वामी तब खेत से लौटकर मिट्टी के दालान पर बैठा नारियल का हुक्का पी रहा था। "भाई, दो दिन का मैं भूखा हूँ।"—कहा प्रभात ने।

गृह-स्वामी ने बड़े आदर से उसे बैठाया। फिर पुकारा—"कृष्णा की चाची!"

तब तक तीक्ष्ण दृष्टि से प्रभात मिट्टी का घर, टूटी चटाई और प्रत्येक वस्तु को देखने लग गया—हाँ, इसी प्रत्यक्ष जानकारी के बल पर ही न उसे आगे चलकर कलम उठानी है। उसने देखा, एक स्वास्थ्य-सम्पन्न श्यामाङ्गी नारी मस्तक पर थोड़ा-सा अवगुंठन डाले आंटा-भर हाथों से निकल आई। पूछा—"तुम बुला रहे थे?"

"हाँ, मेहमान आये हैं। जल्दी इन्हें रोटी खिला दो।"

"अभी तैयार होती है।" कहकर वह चली गई।

और तब किसान के पूछने पर अपने यहाँ पर आने की प्रभात ने एक सुन्दर कहानी कह सुनाई।

सहानुभूति, दया से किसान ने कहा—"भैया, जब तक

तुम्हारा जी अच्छा न हो यहाँ पर रहो। यह घर तुम्हारा है।"

रहा प्रभात दूसरे और तीसरे दिन—किसी प्रकार से कदाचित कैदी की तरह, अन्ततः वह अपने को समझ रहा था कैदी ही। विचारता प्रभात—बापरे-बाप, इस प्रकार के जीवन में यह लोग कैसे जिया करते हैं? दिन-रात काम और वह भी कड़ी धूप में—खेतों में। गोबर, मिट्टी, घास, भूसा, हल चलाना, मिट्टी खोदना। दुनियाँ भर का गन्दा काम। जिस जीवन में आमोद-प्रमोद, सुख-आराम छू तक न पाया हो, वह भी कोई जीवन है? किन्तु ये बेचारे—हाँ, तब तुरन्त सोचता प्रभात—यदि ये लोग ऐसा परिश्रम कर अनाज न उपजावें तो दुनियाँ जरूर ही भूखों मर जावे। आदमी के जीवित रहने का श्रेय और महत्त्व केवल इन्हीं पर है। और वह मात्र तीन दिन इनके साथ इस जीवन में रहकर घबड़ा उठा है? छिः छिः ऐसा कमजोर मन का है वह? सोच चलता प्रभात—विश्व के श्रेष्ठतर मानव तो यही किसान हैं। और तभी तो वह आया है यहाँ—वास्तविक जानकारी के लिए, एक वास्तविक अभिज्ञता के लिए ग्राम की, ग्राम्य जीवन की, ग्रामीण परिवार की, किसान की नित्य नैमित्तिक दिनचर्या की जानकारी के लिए। फिर इसके बाद उसकी कलम से जो भी वस्तु, जो भी चित्र निकलेंगे—वह सब होवेंगे अतुलनीय, अनमोल।

चौथे दिन का प्रातःकाल पहुँच गया, प्रभात के द्वार पर धूम-केतु की भाँति। बारह बजे की कड़ी धूप में जब प्रभात द्वितीय-

बार स्नान करने की सोच रहा था। हाँ, स्नान कर चुपचाप सो रहेगा। बाप रे! पंखा नहीं, खस की टट्टी नहीं, लू-लपटें और धूप! इस प्रकार कहीं कोई जी सका है? तब कहाँ वह सुख-चैन के साधन-सहित अट्टालिका और कहाँ यह फूस की जलती-सी झोपड़ी! गेहूँ नहीं, बासमती चावल नहीं, जौ-बाजड़े की मोटी-मोटी रोटी, अरहर की दाल, कभी वह भी नहीं, कैथ की चटनी मात्र! ईश्वर ही बचावे। तब किसन की चाची घूँघट से मुँह ढाँके पहुँच गई और बिना भूमिका के बोली—"जरा खेत में जाकर उन्हें रोटी दे आओ, भैया, मुझे बुखार चढ़ा है।"

प्रभात सिहर उठा—इस कड़ी धूप में खेत में जाने की बात वह सोच भी नहीं सकता था।

तब तक किसन की चाची ने रोटी की पोटली और जल से भरा लोटा उसके सामने रख दिया, कहा—"उत्तर के खेत में वे मिलेंगे।"

पगला प्रभात लोटा और पोटली लेकर चल पड़ा, लू-लपटों से शरीर उसका जला-सा जाने लगा। थोड़ी देर तक चलने के बाद पसीना से वह डूब गया। उसे लगा, बस अब सनस्ट्रोक होता ही है और फिर इस जंगली ग्राम में उसकी मृत्यु होनी अनिवार्य है।

"पानी-पानी"—प्यास से प्रभात का गला मरुभूमि-सा सूख गया, उसे चक्कर आने लगे। लू तेजी के साथ चल रही थी। धूल, रेत उड़कर उसकी आँखों में भर गई। बस, अब गया,

हो गया उसे सनस्ट्रोक। प्रभात घबरा उठा। घनी इमली की छाया में बैठकर वह हाँफने लगा। लोटा और पोटली एक ओर रख दी। पहले जान तो बचे, तब कहीं जानकारी काम आवेगी और भूखा-प्यासा दिन भर कृषक रोटी का रास्ता देखता रह गया।

परन्तु भाग्यवश कृषक ज्वर लेकर खेत से घर लौटा, किसी ने रोटी की बात पूछी तक नहीं।

परन्तु आई हुई बला प्रभात की कब टलनेवाली थी, प्रातःकाल ही किसन की चाची ने कहा—"मेरी और उनकी तो उठने की हालत नहीं, न हिम्मत ही है। तुम गाय दुह लो और सानी-वानी दे देना!"

गाय दूहेगा प्रभात? अवाक् रह गया, कैसे दूहेगा? और फिर सानी, यदि लात मार दे गाय तो बस, राम-राम!

तब किसन की चाची ने फिर आवाज लगाई—"भैया, उठो, देर हो रही है, जल्दी गाय लगा दो, उन्हें थोड़ा दूध दे दूँ।"

गया प्रभात बटलोई लेकर, फिर दूध दुहने को बैठा भी। पूर्ण शक्ति से वह गाय के स्तनों को खींचने लगा। गाय ने लात मार दी। प्रभात चित्त होकर गिर पड़ा। किसी प्रकार से उठा, धूल तक न झाड़ा और अब भाग चला वह स्टेशन की ओर। इस प्रकार से ग्राम्य-जीवन की जानकारी प्रभात की खतम हो गई।

क्या धरा है ग्राम के गन्दे वातावरण में? ट्रेन में बैठा-बैठा

प्रभात सोच रहा था। गन्दा गाँव, गन्दे उसमें रहनेवाले, क्या धरा है ग्राम्य-जीवन में ? हाँ, यदि वास्तविक ही जीवन की सुख-दुख-भरी कथा के जीवन्त रूप को देखना है तो वह समाज-त्यक्ता वेश्या ही के घर में मिल सकता है। विचार उठा प्रभात के मन में और तुरन्त उसने निश्चय भी कर लिया, शहर की प्रसिद्ध बाईजी काश्मीरी की दिनचर्या का वह अध्ययन करेगा। प्रत्यक्ष जानकारी अर्जन करेगा, तब उसकी कलम से जो कुछ भी निकलेगी वह होगी अविनाशी, अमर। मिथ्या उसने ग्राम में छः दिन बर्बाद किये और तकलीफ सही।

(३)

"वह भी नहीं ? तो तुम क्या जानते हो, रोटी बनाना जानते हो ?" सज्जित प्रकोष्ट, काश्मीरी गलीचे पर तकियों के सहारे अधलेटी काश्मीरी हुक्के की नल मुँह से लगाये पूछ रही थी—"तुम झाड़ लगाना नहीं जानते, जूते साफ करना नहीं जानते, फिर क्या जानते हो ? रोटी बनाना जानते हो ?" निकट में चाँदी का पानदान खुला हुआ रखा था, दासी बैठी पान लगा रही थी।

"नहीं जानता।"—प्रभात ने कहा।

"फिर क्या जानते हो ?"

किन्तु प्रभात ने नहीं, इस बार उत्तर दिया दासी ने—"पलने पर झूलना।" काश्मीरी खिलखिला पड़ी।

प्रभात ने कहा—"हाँ, वह जानता हूँ।"

दासी और स्वामिनी, दोनों हँसते-हँसते लोटने लगीं।

प्रभात ने आमोदपूर्ण दृष्टि से उन दोनों को देखा और कहा —"तबला बजाना जानता हूँ।"

"अच्छी बात है, मेरा तबलची दो माह की छुट्टी पर गया है, तुम मेरे साथ बजाया करो, मगर ऐसे गन्दे कपड़ों से काम नहीं चलेगा। साफ कपड़े पहनकर काम में आना; फिर देखूँगी तुम कैसा तबला बजाते हो।"

सप्रतिभ प्रभात ने कहा—"सनलाईट साबुन की बट्टी मँगवा दें और मेरे रहने का कमरा बतला दें।"

दासी झुँझलाई—"वाह रे नवाब! साबुन भी हम दें और रहने की जगह भी?"

"मेरा घर नहीं है।"

"अच्छा, पहले तुम्हारा तबला सुनूँ।"

प्रभात का तबला बजाना सुनकर काश्मीरी मोहित हो गई—"वाह, वाह, बहुत अच्छा बजाते हो तुम!" फिर दासी से कहा—"दो-मंजिले के कोनेवाली कोठरी तबलची को दे दो। और साबुन भी दो। तुम तनख्वाह क्या लोगे?"

"जो भी मिल जावे।"

बाईजी संतुष्ट हुई, कहा—"अच्छा, जाओ! कपड़े साफ करो!"

आया अवश्य था प्रभात वेश्या की जीवन-यात्रा, दिन-

चर्या के अध्ययन के लिए, किन्तु हो गया उल्टा। चित्त उसका आकर्षित कर लिया उस मिट्टी के एकतल गृह के गृहस्थ परिवार ने। प्रयोजनीय समय पर वह काश्मीरी के साथ तबला बजाता, कभी बातें भी करता, किन्तु अधिकांश समय अपनी खिड़की के सामने खड़ा-खड़ा देखता गोबर से लिपा हुआ उस छोटे से आँगन को। आँगन के कोने में सेफाली, जासौन, जूही के वृक्ष। आँगन के बाद मिट्टी के दालान, दो-तीन कोठरियाँ। आँगन की दूसरी ओर वैसी ही लम्बे, सँकरे दालान, दो-तीन छोटा-छोटी कोठरियाँ, एक तरफ पाखाना। आँगन की तीसरी ओर छोटा-सा दरवाजा। एक तरफ नल।

देखता प्रभात, उस गृह में एक अर्द्धवयसी नारी को रुग्न, कंकालसार, कभी-कभी सन्ध्या की छाया में आंगन में आकर बैठती। और देखता, एक स्थूलदेह पुरुष को—प्रातः, सन्ध्या कर्कशता में पूर्ण, कभी चीत्कार करता, कभी गाली देता रहता—उस सान्ध्य तारा-सी तरुणी को। हाँ, देखता प्रभात, उस संगमर्मर-सी गठित देह कृष्णा को प्रातः से सन्ध्या तक मशीन की भाँति काम करती-फिरती। उसके गृहकार्य, स्नान-भोजन, प्रत्येक वस्तु से प्रभात उन अल्प दिनों ही में भलीभाँति परिचित हो गया था।

देखता वह, दिन भर तो कृष्णा असीम धैर्य, उत्साह के साथ काम करती। प्रातःकाल स्नान करती; घर-द्वार साफ करती; बासन माँजती; रोटी बनाती और उस रुग्न नारी की सेवा

करती; कदाचित् वह कृष्णा की माता हो। और वह पुरुष ? शायद पिता हो।

पिता ? सोचता प्रभात—पिता कहीं ऐसा कठोर, निर्मोही हुआ है ? प्रत्येक बात पर उसे डाँटता, और सन्ध्या के समय शायद शराब पीकर लौटता। कभी-कभी प्रहार का शब्द और चीत्कार भी सुन पड़ता, शायद रुग्णा स्त्री अथवा कृष्णा को वह मारता, फिर रात्रि के समय कहीं चला जाता। प्रातःकाल खाता, दस बजे फिर चला जाता। दिन भर शान्ति रहती।

दो पहर में कृष्णा राशिकृत कुर्त्ता, सर्ट, ब्लाउज काटती, सीती; पड़ोस के स्त्री-पुरुष आते, उन सिले हुए कपड़ों को ले जाते, परिवर्तन में उसे रुपए, पैसे देते। इसके बाद चार बजे से वह पुनः गृहकार्य में जुट जाती।

सो देखता प्रभात, सन्ध्या समय भीत पत्ती की भाँति कृष्णा इधर-उधर छिपती-फिरती। कदाचित उस पुरुष के भय से।

काम करते-करते कृष्णा की आँखें जब भी ऊपर को उठतीं, प्रभात को देखतीं। और तब देखता प्रभात, क्रोध से उस वन-छाया की नासिका स्फीत हो उठती। मुख पर विरक्ति, क्रोध की छाया व्यापती। प्रभात दीर्घ श्वास के साथ खिड़की से हट जाता।

(४)

उस सन्ध्या में तबला बजाने को बैठकर प्रभात विस्मित हुआ है। इस रूखे, सूखे, धूर्त आँखेवाले व्यक्ति को वह

पहचानता है। यह वही अत्याचारी कृष्णा का पिता है। सोचा प्रभात ने, यह काश्मीरी के पास क्यों आया ?

व्यक्ति घूर-घूरकर प्रभात को देख रहा था। उस क्रूर दृष्टि के नीचे प्रभात अत्यन्त अस्वच्छन्दता अनुभव करने लगा। हँसकर बाईजी ने पान की तश्तरी उसके आगे बढ़ा दी, "यह मेरा नया तबलची है। तुम इधर बहुत दिनों से आये नहीं थे, इसलिए इसे देखा भी नहीं था।"

अत्यन्त दम्भ के साथ व्यक्ति बोला —'मैं इसे जानता हूँ।"

प्रभात सशंकित हुआ कि उसका वास्तविक परिचय इसने कैसे जाना ! बहुत सोचने पर भी प्रभात को स्मरण नहीं हुआ कि यहाँ आने से पहले कब उसे देखा था ? कहने लगा व्यक्ति--"यह तबलची बड़ा बदतमीज है।"

प्रभात का रक्त उत्तप्त हो उठा। कठोर स्वर से वह बोला —"होश में आकर बातें करो।"

"तुम-से लौंडे मैंने बहुत देखे हैं। बाईजी, तुम्हारा तबलची मेरे घर दिन रात झाँका करता है। मैंने कई मर्तबा इसे झाँकते देखा।"

काश्मीरी ने पूछा—"क्या यह बात सच है ?"

"परन्तु कोई जानवरों-सा बर्ताव देखने को अगर मिलता है तो आदमी की आँखें उस तरफ उठनी ही स्वाभाविक है।" प्रभात का स्वर उत्तप्त हो रहा था।

कौतूहल से बाईजी ने पूछा—"याने ?"

"उन्हीं महाशय से पूछिए न !"

वह व्यक्ति क्षिप्त की भाँति कहने लगा—"अत्याचार करता हूँ ? चाहे मैं अपने घर में कुछ भी करूँ, तुम कौन होते हो कहनेवाले ?"

काश्मीरी ने प्रभात को रोका—"इनका कहना सही है। चाहे कोई अपने घर में कुछ भी करे, दूसरों को इससे क्या मतलब ?"

इसके बाद बाईजी अपनी कौतुक-जिज्ञासा को दबा न सकी, पूछा—"आखिर बात क्या है ?"

अवहेलना से वह कहने लगा—"अजी, वही कृष्णावाली बात। ऐसी ढीठ, शैतान है कि किसी भी तरह कहना नहीं मानती। मैं उसकी भलाई के लिए कहता हूँ। वरना मुझे क्या मतलब ? तुम्हारे पास उसे रखना चाहता हूँ, कुछ तालीम मिल जावेगी। मगर वे माँ-बेटी मानतीं ही नहीं। श्यामा मरकर भी नहीं मरती। कहती है, कृष्णा की शादी कर दो। वह बँगालिन, मैं पंजाबी। उसकी लड़की की कौन शादी करेगा ? यहाँ तुम्हारे पास रहेगी तो माँ बेटी की जीन्दगी सुधर जावेगी, अभी जवान और खूबसूरत है, अभी पैसे कमा लेगी।"

"अबतक राजी नहीं हुई ?"—काश्मीरी ने पूछा।

"नहीं, मैं इसी हफ्ते घर जा रहा हूँ। लाहौर से चिट्ठी आई है। श्यामा के लिए मेरी जीन्दगी बर्बाद हो गई।"

"अच्छा, पाँच नहीं, छः सौ दूँगी सरदार ! जाने से पहले

उस लड़की को—"सहसा प्रभात पर दृष्टि पड़ी। काश्मीरी चुप हो गई।

सब बातें समझकर प्रभात सिहर उठा—दुनियाँ में ऐसी नीचता, भयानकता भी है? इससे पहले तो कभी वह इन बातों को सोच ही नहीं सका था।

"तबलची, अभी तुम जाओ।"

प्रभात उठकर चला गया।

दोपहर की गोद में शहर जब विश्राम कर रहा था और पथ था शान्त, तब प्रभात पहुँचा कृष्णा के द्वार पर। धक्का दिया। द्वार खोलकर कृष्णा खड़ी हो गई। वेदना से प्रभात ने देखा; उस पर दृष्टि पड़ते ही घृणा, विराग से कृष्णा की आकृति भर उठी।

"क्या जरूरत है यहाँ?"

"बहुत कुछ, पहले भीतर चलो तब सब कहूँगा।"

"वेश्या का तबलची मेरे घर के भीतर नहीं आ सकता है।"

"जो कुछ तुम मुझे देख रही हो वास्तव में मैं वह नहीं हूँ।" इसके बाद अपने छद्मवेश का कारण उसे बतलाया। परन्तु खेद के साथ प्रभात ने देखा, कृष्णा के मुख पर के अविश्वास की मुस्कान को।

"तुम संकट में हो, कृष्णा!"

"यह कोई नई बात नहीं है।"

"नहीं-नहीं, तुम नहीं जानती कि दो ही एक दिन में तुम किस मुसीबत में फँस जाओगी।"

"और वही आप भरी दुपहरी में चुपके-चुपके मुझे जताने को आये हैं ? केवल जताने को ही न ?" कृष्णा की बात के मध्य में जो व्यंग प्रश्न था, उस प्रश्न के सामने प्रभात लज्जा से मर मिटा। सच ही तो, क्या केवल वह उसे जताने आया है ? इससे कृष्णा को लाभ ? आया है वह केवल जताने; न विपद से दो नारी को बचाने, न उन्हें आश्रय देने; आया है केवल जताने। तो बुद्धिहीन-सा प्रभात कह उठा —"जताने नहीं; वरन् उस संकट से तुम्हें उबारने।"

"किस तरह ?"

"तुम मेरे साथ चलो।"

"याने भाग चलूँ ?"

"भागना क्यों, मेरे घर चलो।"

कृष्णा के नेत्रों का प्रगाढ़ विस्मय प्रभात को काँटा-सा गड़ने लगा। कहने लगी कृष्णा दो मिनट ठहरकर—"फिर घर में ले जाकर मेरा क्या परिचय संसार को दोगे, तबलची ?"

प्रभात अवाक् रह गया। सच ही तो, इन बातों को तो वह सोचना ही भूल गया। और यह जो लड़की इतनी बातें सोच रही है, कह रही है, इस अल्प अवस्था में इसने ऐसी जानकारी कैसे और कहाँ से पाई ? प्रभात का विचार आगे बढ़ा—दुनिया से ? हाँ, दुनिया की कठोरता, निर्दयता और

ठोकरों ने इस किशोरी के मन को प्रवीण, दूरदर्शी, अविश्वासी बना दिया है। कृष्णा कह रही थी—"जाओ, अब कभी भी यहाँ न आना। यदि मेरे पिता देख लेंगे तो जिन्दा न छोड़ेंगे।"

"क्या वास्तविक ही वह बदमाश तुम्हारा पिता है ?"

लड़की ने विस्मय से प्रभात को देखा और कहा—"जाओ !" और इस प्रकार उसे ठेलकर दरवाजा बन्द कर दिया।

(५)

काश्मीरी का तबलची उस दिन खिड़की के सामने से हट न सका। बाईजी ने कई बार बुलाया। उसने कहला दिया; जी खराब है। भोजन से भी इनकार कर दिया।

कृष्णा के मकान में सवेरे से ही महाप्रलय-सा मचा हुआ था। चीत्कार, प्रहार की मात्रा उस दिन अत्यधिक थी। आँगन में कई सूटकेस, ट्रङ्क, एक बिस्तर बँधा हुआ रखा था। क्रमशः प्रातःसे दोपहर हो गया मगर उस गृह का प्रलय एक-सा रहा।

यह सामान ? सोचा प्रभात ने और तभी उसे स्मरण हो आया कि कल बाईजी से कह रहा था कृष्णा का पिता कि वह लाहौर जा रहा है एवं सदा के लिए।

प्रभात खिड़की से हटकर पलंग पर बैठा। बाईजी दरवाजे पर पहुँची—

"क्यों तबलची, बुखार चढ़ा है क्या ?"

"नहीं, पेट में दर्द है।"

"लेकिन शाम को मुझे सेठजी के घर मुजरे को जाना है—"

बाईजी का वाक्य अर्द्ध समाप्त रह गया। नारी-कंठ के आर्त्त चीत्कार से प्रभात व्याकुल-सा खिड़की पर दौड़ा। सामने जो दृश्य था उसके बाद भी एक पलभर रुक सकना प्रभात के लिए असम्भव था।

कृष्णा को घसीटता हुआ उसका पिता बाहर की ओर लिए जा रहा था और उसकी माता रोग-यातना को भूलकर दोनों हाथों से पथ रोककर खड़ी थी। कह रही थी—"मेरी लड़की को वेश्या के पास भेजकर वेश्या मत बनाओ।"

"अरे तबलची, यह क्या कर रहे हो? कहाँ जा रहे हो?"

प्रभात ने धक्का देकर बाईजी को दूर फेंका, फिर कृष्णा के घर पहुँचा। पीछे-पीछे बाईजी गालियाँ देती हुई पहुँची—"कमीना, बदमाश, इस बदतमीजी का मजा चखाती हूँ।"

प्रभात ने दोनों हाथों से कृष्णा के पिता को समेटा; फिर फुटबाल की तरह दूर फेंक दिया।

"तू पागल तो नहीं हो गया है, तबलची?"—काश्मीरी गरज उठी।

प्रभात ने अवहेलना से उसे देखा; फिर अर्द्धमृता-सी कृष्णा को लिटाकर मुँह पर पानी का छींटा मारने लगा।

उसकी माँ प्रभात के चरणों से लिपट गई—"बेटा, मेरी कृष्णा को वेश्या होने से बचाओ।

"घबराइए नहीं। मैं हूँ, माँ!"

तब तक कृष्णा का पिता धूल झाड़कर उठ बैठा और क्रुद्ध बाज की तरह प्रभात पर झपटा और दूसरी ओर से काश्मीरी।

प्रभात ने अवहेलना से उन दोनों को देखा; फिर बालक जैसे गेंद लोकता है उसी भाँति उस व्यक्ति का गला पकड़कर ऊपर उठाया; फिर काश्मीरी से कहा—"यदि अपनी भलाई चाहती हो तो यहाँ से फौरन चली जाओ और तू पापी, चाण्डाल, निकल यहाँ से दूर हो!" उसका गला झकझोर कर जमीन में उतार दिया।

काश्मीरी ने कहा—"किसी के घर घुसकर इस तरह ऊधम मचानेवाले तुम कौन होते हो?"

"इसका जवाब एक वेश्या को नहीं दिया जा सकता है। केवल इतना कह सकता हूँ कि मैं आदमी हूँ और उस नाते मैं इनलोगों का सब कुछ होता हूँ।"

"आज तू अपने आप को भूल रहा है, तबलची!"

"किसे तबलची कह रही हो, बाईजी? तुम्हारा तबलची? वह था दो दिन का शौक। तुम्हारे तबलची का अन्त हो चुका है, आज जो तुम्हारे सामने है—हाँ, प्रभात शर्मा का नाम सुना है न तुमने?"

प्रगाढ़ विस्मय से बाईजी चिल्ला उठी—"तुम-तुम, आप—"

"हाँ, मैं ही हूँ प्रभात शर्मा।"—फिर उस व्यक्ति से कहा, "तुम लाहौर जा रहे हो? चले ही जाओ, वरना जेल में ठूँस दिये जाओगे।"

वह जल्दी से निकल गया।

"और बाईजी, तुम भी अपने घर जाओ।"

"आप—"

"बस, अब कोई बात नहीं।"

कृष्णा का पिता लौटा और क्रूर सर्प की भाँति प्रभात को घूरता हुआ बोला—"आखिर तुम मेरी बातों में दखल देनेवाले होते कौन हो? एक तो जबरन औरतों के बीच में घुसना, उस पर मेरे ही घर में मुझ पर जमाना। मारना, ठहरो, अभी पुलिस के हवाले करता हूँ।"

प्रभात व्यगं से हँसा—"पुलिस के हवाले कौन किसे करता है, सो अभी देखा जावेगा।"

व्यक्ति कुछ डरा-सा—"याने।"

"पास थाना है, मैं अभी खबर करता हूँ। लड़की बेंचने के अपराध से—"

व्यक्ति बीच ही में निर्लज्ज की भाँति हँस उठा—"कौन विश्वास करेगा कि मैं बाप होकर अपनी लड़की को बेंच रहा था?"

"गवाह देगा कौन, जानते हो?"

"कौन?"

"काश्मीरी का तबलची, नहीं, शहर का नामी अमीर प्रभात शर्मा, और गवाह देगी कौन, जानते हो? लड़की की माँ।"

उत्तर की प्रतीक्षा न कर प्रभात बाहर निकला, किन्तु पुलिस लेकर जब वह लौटा तब वहाँ से वह व्यक्ति तथा काश्मीरी भाग चुके थे। सूटकेस आदि कुछ नहीं था। केवल कृष्णा और उसकी माँ सन्ध्या के अंधेरे में प्रेतिनी की भाँति आँगन के कोने में बैठी भय से काँप रही थीं।

"वह कहाँ है ?"—पूछा प्रभात ने।

"अपना सामान लेकर न जाने कहाँ चले गये।" कृष्णा की माँ ने कहा।

प्रभात ने कन्सटेबुल को विदा किया और जब वह आकर नारी-द्वय के सामने खड़ा हुआ तब कृष्णा की माता सहसा ही उसके पैरों से लिपट गई—"बेटा, मेरी कृष्णा को बचाओ। उसे ठिकाने लगा दो।"

इस परिस्थिति ने, इस वातावरण ने प्रभात के अन्तर में एक महापुरुष को जगा दिया। आवेग के साथ वह कह उठा—"आप निश्चिन्त रहिए, कृष्णा का भार आज से मुझ पर है।"

जरा ठहरकर कहने लगा प्रभात—"चलिए न, आप दोनों मेरे घर चलिए, वह घर आप ही का है।"

नारी उठी, कृष्णा का हाथ प्रभात के हाथ पर रखकर कहा—"आज से इसकी भलाई-बुराई तुम पर है, मेरे बड़े दुख की, बड़े प्यार की लड़की है कृष्णा। बेटा, इसी लड़की को जिलाने के लिए, इसे ही मुट्ठी भर अन्न देने के लिए माता मैं—"आँसू से उसके वचन अर्द्ध समाप्त रह गये, आँसू पोछकर पुनः बोली—

"इसे पत्नी का सम्मान देकर आदर के साथ रखना, और क्या कहूँ।"

पत्नी का सम्मान ? सहसा ही प्रभात की चेतना लौटी, द्रुत विचार उठा मन में—कृष्णा—हूँ! यह देवता के निर्माल्य-सी कृष्णा, दरिद्र कन्या कृष्णा! यदि इस दुःखी लड़की को सम्मान के साथ घर नहीं ले जा सकेगा तो फिर इस लड़की को जगह दुनियाँ में होगी कहाँ ? वेश्यालय में ?—प्रभात सिहर उठा—नहीं—नहीं, ऐसा नहीं हो सकता है। माँ बंगाली है और पिता पंजाबी तो क्या हुआ, आखिर वे विवाहित पति-पत्नी तो है ही न! जाति-विचार में इतनी शक्ति कहाँ है जो कि मनुष्य को ढाँक सके ? वह उससे शादी करेगा। वह बोला, "माँ, तीन-चार दिन के भीतर ही आप की आज्ञा का पालन होगा, आप बंगाली और आप के पति पंजाबी हैं जो मैं सुन चुका हूँ। अब चलिए, देर हो रही है।"

"तुम कृष्णा को ले जाओ बेटा, मैं इस घर को छोड़कर कहीं भी नहीं जा सकती हूँ।"

"यदि रात में वह आकर आपको तंग करे ?"

"कोई बात नहीं, कृष्णा तो तब नहीं होगी यहाँ, अन्ततः शान्ति से तो मर सकूँगी।"

"चलो, कृष्णा !"

कृष्णा माता से लिपट गई, किन्तु प्रभात देखकर विस्मित हुआ—माता के नेत्रों में विन्दुमात्र भी जल नहीं था। एक

उतावली से माँ ने लड़की को अलग किया और उसे ले जाकर गाड़ी पर बिठा दिया।

चलते समय प्रभात पुनः लौटा, माता के चरणों में प्रणाम कर बोला—"तो हमारी शादी में भी आप नहीं चलेंगी ?"

नारी ने दूसरी ओर मुँह फेरकर कहा—"अच्छा !"

"परसों मैं आप को ले जाऊँगा।"

"अच्छा !"

"एक बात और"—जरा रुककर संकोच के साथ प्रभात ने पूछा—"आप दोनों की शादी किस मत से हुई थी ?"

"कल आना, सब कहूँगी।"

नारी अन्दर चल दी, प्रभात उस विवर्ण मुख को देखकर विस्मित हो रहा था।

दूसरे दिन प्रभात की कार आकर खड़ी हुई कृष्णा के दरवाजे। दरवाजा खुला पड़ा था। आँगन में प्रवेशकर प्रभात स्तब्ध हुआ। सब वस्तुएँ गृह के आँगन में बिखरी पड़ी थीं, कुछ जल चुकी थी, कुछ अधजली थीं, आग बुझ चुकी थी। सब कमरों में ढूँढ़ डाला, कृष्णा की माता का कहीं पता न चला। केवल लिफाफ एक पड़ा हुआ था। शीघ्रता से प्रभात ने लिफाफा खोलकर पत्र पढ़ा। एक लाइन लिखा हुआ था,—"प्रभात और कृष्णा को आशीर्वाद !"

तब प्रभात पहुँचा काश्मीरी के घर। अत्यन्त आदर-सम्मान से काश्मीरी ने उसे बैठाया, पानदान सामने रखकर स्वयं बैठी।

"एक काम से आया हूँ, बाईजी !"

"कहिए !"

"कृष्णा के घर गया था, सामान सब आँगन में जले हुए पड़े हैं, घर में कोई नहीं है। कहीं उस शैतान ने माँ को मार तो नहीं डाला ?"

विस्मय से काश्मीरी ने पूछा—"वह नहीं है ? और कृष्णा ?"

"कृष्णा को मैं ले गया हूँ। कल शादी है हमदोनों की। माँ कहाँ हैं ?"

"सरदारजी को कल मैं अपनी कार पर बैठाकर स्टेशन गई और पंजाब की ट्रेन पर उन्हें बैठाकर आई। कृष्णा की माँ की बात तो मैं नहीं जानती।"

"सच कहती हो, वह चला गया ?"

"बिलकुल सच।"

देर के बाद प्रभात ने कहा—"एक बात का सच्चा उत्तर दोगी ?"

"जरूर, पूछिए !"

"कृष्णा की माँ सरदार की विवाहिता पत्नी है न ?"

काश्मीरी का मुख वेदना स भर उठा—"यदि वह सरदार की विवाहिता पत्नी न हो तो आप कृष्णा से शादी न करेंगे। यही न ?"

प्रभात उसका मुँह निहारने लगा।

उत्तेजना से भरी-भरी कह चली काश्मीरी—"हम वेश्या हैं,

सो ठीक है, किन्तु आपलोगों की तरह जानवर नहीं हैं, हैं आदमी। यदि कृष्णा की जगह कहीं पर भी न हो तो मेहरबानी से उसे मुझे दे दें। एक लड़की के लिए और निष्पाप, निर्दोष लड़की के लिए काश्मीरी के मन में एवं घर में जगह की कमी कभी भी न है और न होगी ही।''

लज्जित, आहत प्रभात चुपचाप उठकर चल दिया।

काश्मीरी की ओर? नहीं, वह आँखें उठाकर उस ओर देख तक न सका।

सती

वायु से होड़ लगाकर गाड़ी उड़ती-सी, बहती-सी चली जा रही थी—झक-झक-झक-झक—नित्य की भाँति। और उस इण्टर क्लास के डब्बे में हम दो मित्रों को मिलाकर आठ यात्री थे। हम दुर्गा पूजा की छुट्टी मनाने जा रहे थे—लाहौर की ओर।

मित्र गिरीश के साथ मैं बैठा हुआ था। हम दोनों का तर्क चल रहा था पाप और पुण्य पर।

गिरीश कह रहा था—"पाप यदि बुरा न होता तो स्वर्ग-नरक का भेद क्यों रहता और पुण्य की महिमा क्यों बखानी जाती?"

मेरा उत्तर था—"पाप और पुण्य की परिभाषा न आजतक हो सकी है, न होने की है। पाप तो देश, काल और पात्र पर निर्भर है।"

सामने की बेंच पर बैठे एक वृद्ध व्यक्ति स्मित हास्य से कह उठे—"महाशय, परिस्थिति पर ही शायद पाप और पुण्य का अर्थ बहुत कुछ निर्भर रहता है।"

"केवल परिस्थिति पर? और देश, काल, पात्र पर नहीं?"

"किन्तु देश-विशेष का समाज भी तो भिन्न-भिन्न रहता है न। और समाज में बसा हुआ पात्र परिस्थिति में ही पनपता रहता है। मैं एक सत्य घटना सुना रहा हूँ और उसे सुनने के बाद आप स्वयं निर्णय कर सकते हैं। और आप?"

"जरूर मानते हैं।" हम दोनों कह उठे।

"ठीक है। कहता हूँ, हिन्दू घर में पनपी हुई लड़की यदि उस आत्म-हत्या को पाप नहीं, पुण्य समझे, तो आप उसे क्या कहेंगे?"

"उन्माद।"—हम दोनों फिर कह उठे।

व्यक्ति मुसकुराये—"किन्तु मैं कहूँगा उसे उसका अपना निजी दृष्टिकोण। और उसके अनुसार पुण्य।"

"पुण्य?"

"हाँ, अच्छा तो सुनिए। जबलपुर की घटना है। मेरा घर रास्ते के इस पार है और उस पार कई घरों में बढ़ई रहते हैं।"

"हैं—याने क्या अब भी हैं?"—बीच में मैंने टोका।

"हाँ—हैं। रामदीन बढ़ई की छोटी-सी लड़की, हिरण-जैसी चंचल गति। अपने घर से बैठा-बैठा मैं नित्य देखा करता।

वह प्रतिदिन अपनी माँ के साथ उस आम की छाया में सती के चबूतरे की परिक्रमा लगाया करती। वहाँ पर आम के नीचे सती का चबूतरा है। कभी कोई पतिव्रता नारी पति की जलती हुई चिता पर सहमरन में बैठी होगी और शायद उस स्थान पर अथवा उसके किसी चिह्न पर किसी ने चबूतरा बनवा दिया होगा और शायद किसी घोर वर्षा में मिट्टी के चबूतरे का चिह्न तक बह गया होगा, हो सकता है विश्वास के बल पर किसी ने पक्का चबूतरा बनवा दिया होगा—वहीं पर या तो उससे कुछ हटकर। तभी से चबूतरा साफ-सुथरा रहता है।

एक विशेष दिन में हजारों नारियाँ वहाँ फूल-फल, सिन्दूर, टिकली, चूड़ी चढ़ाती हैं। स्त्रियाँ पूजा किया करती हैं, परिक्रमा लगाती हैं और उस महल्ले की स्त्रियाँ उसे लीपती-पोतती हैं।

उस छोटी पार्वती का नित्य का काम था चबूतरे की परिक्रमा लगाना, माता को लीपने में सहायता देना और वहीं पर बैठकर सती की कहानी सुनना।

धीरे-धीरे पार्वती बड़ी हुई और स्कूल जाने लगी। तब वह अपने साथ एक छोटी-सी किताब लेकर पहुँचा करती। कौतूहलवश एक दिन मैंने पूछा—"पार्वती, इस किताब में क्या है?" मुझे भली-भाँति स्मरण है वह श्रद्धा के साथ बोली थी—"इसमें सती का महात्तम लिखा है। पढ़ोगे, बाबूजी?"

मैंने भी हँसकर कह दिया था—"कभी पढ़ लूँगा, बिटिया !"

× × × ×

कार्यवश उस वर्ष कई वर्षों के लिए मुझे बाहर जाना पड़ा। मुझे अच्छी तरह याद है, जिस दिन घर लौटा था, उस दिन धीमी वर्षा के साथ बढ़ई के घर से मीठी शहनाई की आवाज आ रही थी।

स्नान-भोजन के बाद खिड़की के पास पहुँचा तो देखा, रामदीन के घर बारात आई है। मेरी ही आँखों के सामने पार्वती दुलहिन बनी, घूँघट लगाये डोले पर दूल्हे के साथ बैठकर ससुराल चली गई।

बढ़ई की छोटी-सी लड़की, और एकनिष्ठ सती की पुजारिनी पति के घर चली गई। चबूतरे के अन्दर दबी हुई सती को पार्वती के अभाव से सूना लगता था या नहीं, सो तो वही जाने, किन्तु मुझे सूना लगता रहा, इतना तो ठीक है ही। अन्त में उधर की खिड़की मैंने बंद कर दी। उस ओर देखा भी नहीं जाता था। उस छोटी लड़की के अभाव से मेरे बूढ़े और निःसंग मन को किस प्रकार का शोक तब हुआ था, वह मेरे लिए एक नयी वस्तु और नयी जानकारी थी।

कई वर्ष बीत गये। पहले की भाँति मैं फिर वेद और वेदान्त की गुत्थियों में उलझा हुआ रहने लग गया।

उस दिन गर्मी ज्यादा थी। चाँदनी खुलकर छिटकी हुई

थी, बत्ती बुझाकर पलंग पर पड़ रहा। कमरे में अँधेरा हो गया। खुले दरवाजे से मुट्ठीभर चाँदनी कमरे में प्रवेश कर मानों खिलखिला पड़ी।

बारह और फिर रात एक की घंटी बज गई। गर्मी के कारण नींद नहीं आ रही थी। तब मैं पलंग पर पड़ा न रह सका। उठा और उस बन्द खिड़की को झटके से खोला। कई वर्षों से खिड़की बन्द थी। खोला, इतना तो ठीक है, परन्तु किस लिए और क्यों खोला, सो कहना जरा कठिन है। मेरी आँखें सीधे चबूतरे पर जा पड़ीं।

एकदम चौंका। कोई चबूतरे पर सिर रखकर बैठा हुआ था। शायद वह स्त्री ही थी। और दूसरे पल मेरी नसें सिहरकर स्पन्दनहीन हो रहीं। रात की चुप्पी में क्या सती चबूतरे से निकलकर बैठी हुई है ?

सहसा मैंने सुना—"पार्वती, घर चलो, जमाई के पेट का दर्द ज्यादा हो रहा है।"

पार्वती ? मैं सिहर उठा। रोमांचित मैं खड़ा-खड़ा सोचने लगा—तो वह छोटी पार्वती आज इतनी बड़ी हो गई है ? परन्तु इतनी रात में वह सती-समाधि में कौन-सी भीषण कामना लेकर आई है ?

प्रातःकाल उठते ही मैं सीधे बढ़ई के घर पहुँचा। पार्वती मेरे पैरों से लिपट गई। मैंने आँखें उठाकर देखा—एक हड्डियों का ढाँचा नेवार की चारपाई पर पड़ा कराह रहा है। पार्वती

की माँ जमाई के सिरहाने बैठी आँसू पोंछने लगी। उसका बाप विषन्न मुख से चिलम भरने लगा।

किन्तु परम आश्चर्य तो यह था, कि जब उसके पति के लिए सब उदास-चिन्तित हो रहे थे, तब एक पार्वती ही ऐसी थी जो न तो उदास थी और न दुःखी। उसके अंग-अंग से निश्चिन्तता टपकी पड़ रही थी।

फिर वह रात कटने भी कहाँ पाई! भोर की बेला में बढ़ई के घर के करुण-क्रन्दन से मन उदास हो उठा। और उस घड़ी मेरी चेतना शायद रही न हो।

"बाबूजी; जीजी पुकार रही हैं।"

पुकार सुनकर मैं सहमा। पार्वती का छोटा भाई द्वार पर खड़ा था। विस्मय था कि विधवा पार्वती को अभी-अभी मुझसे ऐसी कौन-सी जरूरत पड़ गई है? मैं उठा और पार्वती के घर पहुँचा।

वह जरा-सी गुड़िया-जैसी लड़की मेरी ही आँखों के सामने बड़ी हुई, सोहागिन बनी और मेरे ही सामने विधवा हुई। फिर इस वक्त उस पार्वती-सी पार्वती का वैधव्य देखने के लिए मुझे बुलाया भी गया है। ऐसी भावना में दबा हुआ कब उस मृत्यु-मलिन गृह में पहुँच गया, सो कुछ नहीं जानता।

यदि दरवाजे को न पकड़ लेता तो निश्चय ही मेरा सिर दीवार से टकरा जाता। वस्त्र-अलंकार पहने पार्वती मृत पति के निकट बैठी थी। महावर, सिन्दूर, काजल, टिकली, कंघी कुछ न छूटा था। भ्रम नहीं, किन्तु जोर के साथ कह सकता हूँ—

उसके नेत्रों में विषाद नहीं किन्तु खुशी भरी हुई थी—वही पाने की खुशी; खोने का दुख नहीं। उसके माता-पिता आदि शव को घेर कर माथा पीट रहे थे।

"बाबूजी,—आच्छन्न शोक से पार्वती का पिता कहने लगा —"मैं धन-जन से लुट गया। दामाद-बेटी चले गये तो मैं ही किसके लिए रहूँ? दामाद तो गया ही, अब पार्वती का धर्म क्यों बिगाड़ूँ? वह पति के साथ सती होना चाहती है, तो मैं क्यों बाधा बनूँ? बच्ची तैयार बैठी है, लेकिन लोग कहते हैं कि अगर वह पति की चितापर बैठकर सती होने लगेगी तो हम सबके सब पकड़ जायँगे। सरकार का हुक्म नहीं है। सो बाबूजी, दरख्वास्त आप लिख दें सरकार को कि बच्ची सती हो रही है, तब तक हमलोग नर्मदाजी को चल रहे हैं।"

मैं स्तब्ध विस्मय से चुप हो रहा—मृत के साथ जीवित की हत्या? नहीं, मेरे सभ्य मन में इसके लिए सम्मति नहीं है।

तब उन्हीं में का एक लिखा-पढ़ा व्यक्ति सामने आया। दरख्वास्त लिखकर ले गया। और सब लोग पार्वती तथा शव को घेर कर नर्मदा की ओर बढ़े। सती को देखने के लिए कई हजार की भीड़ उनके साथ हो ली।

अन्त में मैं भी उनके साथ वहाँ तक पहुँच ही गया। संध्या हो गई थी, और चिता मानों उस संध्या का परिहास कर रही थी।

चिता की सातवीं बार प्रदक्षिणा करने के बाद जब पार्वती

चिता पर बैठने के लिए तैयार हुई, तब मेरे नेत्र अपने से उसके मुख पर जाकर गिरे। और विस्मय से देखा मैंने उस मुख पर अपूर्व ज्योति, मानों एक दैवी शक्ति से उसका शरीर मन ज्योतिर्मय हो रहा हो। सहसा मेरी आँखें बन्द हो गईं। फिर चीत्कार सुनकर आँखें खोलीं।

नहीं, वह पति के साथ अपने कल्पित स्वर्ग में नहीं पहुँच पाई। उसी पल में उसे पुलिस के अधिकारियों ने पकड़ लिया।

उस दिन विचारालय जनाकीर्ण हो रहा था। अपराधिनी पार्वती का विचार था। आत्म-हत्या करने की चेष्टा करने के अपराध की यह अपराधिनी थी।

सरकार के वकील ने पूछा—"आप आत्महत्या करने को गई थीं। इस बात को आप स्वीकार करती हैं?"

"आत्महत्या नहीं, मैं पति के साथ सती होने जा रही थी।'

"वह आत्महत्या ही है। और आप आत्महत्या महापाप करने की अपराधिनो हैं।"

पार्वती सिंहनी-सी गरज उठी। जनता ने विस्मय से सुना उस गर्जन को—"मैं नहीं, अदालत पापी है, अपराधी है। एक सती की उसने जबरन ही हत्या की। सती धर्म से बढ़कर कौन-सा धर्म है? अदालत महापापी है। मुझे पति के साथ जाने से रोकनेवाला वह कौन होता है? मैं आदमी हूँ, मेरे स्वाधीन अधिकार पर, इच्छा पर रोक लगानेवाला वह होता ही कौन है?"

अदालत स्तब्ध हो रही। वृद्ध व्यक्ति चुप हो गया।

हमदोनों जैसे नींद से जागे। मैं कह उठा—"फिर एक पागल के लिए वह करते ही क्या? उस पगली को अन्त तक उनने छोड़ दिया होगा।"

"हाँ, महाशय, पागल कहकर उसे छोड़ा गया। और आप उसे पागल कहते हैं।" सहसा ही व्यक्ति ने मुझसे पूछा।

"वह पागल हो गई थी।"—मैं बोला।

"नहीं। इसके बाद भी वह आठ दिन तक जीवित थी। पागल-पन का जरा-सा भी लक्षण नहीं था।"

"फिर आप यही कहना चाहते हैं कि वह पागल नहीं हुई थी?"

"नहीं, उसके अपने दृष्टिकोण से सती होना पाप नहीं, महापुण्य था।"

"चाहे वह कुछ भी रहा हो, किन्तु पागल हो गई थी, इतना तो सही ही है।"

गिरीश ने पूछा—"उसके बाद।"

दीर्घ श्वास के साथ वृद्ध कहने लगे—"आठवें दिन प्रातः-काल पार्वती को उसी सती के चबूतरे पर बैठी हुई पाया, वैसी ही वस्त्र-अलंकार पहनी हुई। पति के चित्र को गोद में लिए वह इस जन्म के लिए सो गई थी। माता ने उसे हिलाया तो उसका मृत शरीर लुढ़क गया।

गिरीश गुनगुना उठा—"अपूर्व सती!"

मैं परिहास से हँसा—"विल पावर, अन्ध विश्वास!"

परन्तु न जाने क्यों मेरी वह हँसी कंठ के अन्दर ही दब मरी।

कहानी समाप्त हो चुकी थी। वृद्ध यात्री खिड़की के बाहर देख रहे थे। कम्पार्टमेंट के सब यात्री जैसे गम्भीर तन्द्रा में आछन्न हो रहे।

गाड़ी वैसी ही उड़ती-सी चली जाती—भक-भक-भक-भक!

———

नग्न सत्य

जब कालेपानी की सजा पाये हुए अपने पति रमेश की मृत्यु की खबर के ठीक तीसरे ही दिन सिन्दूर भरी माँग तथा साज-सज्जा से दमकती हुई निहार जलपूर्ण कलस लेकर नदीतट से घर लौटी, तब उसके श्वसुर-सास ने बहुत कुछ समझाया, धमकाया, किन्तु विस्मय की बात तो यह है कि मृदु-मृदु हँसते रहने के सिवा निहार ने और कुछ भी उत्तर न दिया।

गुड़िया-सी सजी हुई लजीली गृहिणी निहार आज हो रही थी घृणास्पदा, अस्पृश्या, समाजत्यक्ता—कोने के कमरे में रही आती निर्वासिता-सी।

दबकर? लजाकर? नहीं, ऐसी बात नहीं थी, अपने-आप में मस्त वह फागुन दीप-सी जलती। घर की दासी दूर से उसे भोजन दे आती। कभी दासी भूल जाती तो वह निराहार ही रही आती। इतने पर भी उसके मन की खुशी, मुँह की हँसी

बुझ न पाती। आनन्द प्रदीप-सी वह अपने आप में प्रकाशमान रही आती।

निहार की माँग का तिल बराबर सिन्दूर का चिह्न पुनः दृष्टि-गोचर हो गया उस भरी-पूरी सन्ध्या में श्वसुर को। चश्मा के भीतर से दृष्टि गड़ाकर उसने देखा और फिर देखा।

विचारक निहार के सास-श्वसुर और अपराधिनी निहार। तब आँगन पर के लाल-लाल अनार के फूल-फल मानों कौतुक देखकर हँस पड़ते। पवन किलकारियाँ करना आरम्भ कर देता और पत्ते रंग, परिहास से हँसकर लोट पड़ते निहार की सिन्दूर-रेखांकित माँग पर।

"कलंकिनी, वेश्या, यह किसके नाम पर सिन्दूर पहनती है, दूर हो यहाँ से।" —सास ने कहा।

श्वसुर ने जरा गंभीर स्वर से कहा—"कहो बहू, किसके नाम पर सिन्दूर पहनती हो?"

निहार चुप रही।

"दूर हो, दूर हो—यहाँ से, मेरे पवित्र कुल में कलंक लगाया।"—सास एक-सी गरज रही थी।

श्वसुर का कठोर स्वर ध्वनित हुआ,—"सुनो, हटो मत, तुम्हारी जगह इस घर में अब न होगी, जब तक कि न मुझे सन्तोष-जनक उत्तर दे सकोगी। कहो—तुम्हें कहना पड़ेगा कि किसके नाम पर सिन्दूर पहनती हो।"

"आप के पुत्र के।"–सहसा ही निहार के मुख से निकल गया।

"रमेश के? मृत के नाम पर भी कहीं माँग भरी जाती है?"

निहार के मौन मुख के प्रति देखता रोषरुद्ध स्वर से श्वसुर ने फिर कहा—"जिसे मरे कई माह बीत गये—"

"नहीं।"

वधू का दृढ़ उत्तर सुनकर वृद्ध अवाक् रहा।

"मैं इन बातों में भूलती नहीं, यह सब स्वांग मैं जानती हूँ। कहो, रात में तुम्हारे कमरे में कौन आता है? चुप मत रहो, धोखा मत दो।"

"कहो जल्दी, साफ जवाब दो, यह वेश्यालय नहीं है।"—श्वसुर कह रहे थे।

निहार के नेत्र अग्नि से दीप्त हो गये, वैसे ही उत्तेजना में भरी-भरी वह बोली—"मैं वेश्या नहीं हूँ।"

"धो डालो इस सिन्दूर को!"

"नहीं।" और उन दोनों को वैसे ही विमूढ़ रखकर वधू अपने कमरे में चल दी।

पड़ोसी भुवन जो कि निकट में खड़ा सब कुछ देख-सुन रहा था, इस बात को किसी ने भी लक्ष न किया।

(२)

अर्द्ध-रात्रि के अन्धकार में एक व्यक्ति निःशब्द गति से निहार के पिछले द्वार पर आकर खड़ा हो गया। प्रस्फुटित मल्लिका-सी निहारिका खड़ी थी द्वार पर। किन्तु जिस समय

व्यक्ति निहार की उत्थित बाँहों में समा जाने को हुआ उसी पल अपने पर पड़े टार्च के लाइट से वह किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो रहा।

"रमेश—मेरा रमेश !"—पिता-माता उस व्यक्ति से लिपट गये और जब तक रमेश सहमा तब तक पुलिस उसे हथकड़ी पहना चुकी थी। निहार और माता-पिता चित्रार्पितवत् खड़े ही रह गये।

भुवन कह रहा था—"इन्सपेक्टर साहब, मेरा इनाम भूल न जाइयेगा !

सब कुछ समझ सकने के बाद पिता-माता हाहाकार कर उठे। उस चीत्कार से निहार की तन्द्रा टूटी।

पुलिस के घेरे में चलते-चलते रमेश पल भर के लिए रुका, बोला धीरे—"इस विलाप से तो अब कोई लाभ नहीं है निहार ! खोकर पाना अवसर-विशेष पर निर्भर है, परन्तु पाकर खोना तो अपने ही हाथ में है न !"

निहार ने आँखें उठाकर उस ओर देखा, पुलिस सिहर उठी, दर्शकगण आतंक से काँपने लगे—यह कहाँ का आग्नेय गिरि इस नारी की आँखों में फट पड़ा है ?

रमेश तब तक आँखों से आड़ हो चुका था। श्वसुर वधू के निकट पहुँचे, परम सम्मान से उसके माथे पर हाथ फेरते हुए कहा—"रुपये बरसा कर रमेश को वापस लाऊँगा, मेरे कुल का कलंक हटा, इससे बढ़कर खुशी मेरे लिए संसार में और क्या हो सकती है। मेरा नीचा सिर आज ऊँचा हो गया। किन्तु

इतने पर भी निहार के मुख-भाव का किञ्चित-मात्र भी परिवर्त्तन न हुआ, उसके अश्रुहीन नेत्रों में दृढ़ता की छाया व्याप रही।

सास स्नेह से वधू का हाथ थामें बोलीं—"तुम पर हमने इतने दिनों तक अन्याय, अत्याचार किया है। यद्यपि मूँछ और दाढ़ी ने मेरे रमेश की सुकुमार आकृति को ढाँक रखा है, तो क्या हुआ; मैं तो पल भर में अपने बच्चे को पहचान गई न! किन्तु यह तो कहो, कैसे यह सब हुआ। उसकी मौत की खबर क्या झूठी थी ?" और सास देखकर विस्मित हुई कि निरन्तर वधू वैसे ही चल दी।

जनाकीर्ण विचारालय, कठघरे में वही अपराधी। अपराधी पक्ष के वकीलों में तब सरकारी वकील का वाद-विवाद चल रहा था। पिता पलक-हीन नेत्रों से अपराधी को देख रहा था।

विचारक ने पिता से पूछा—"अपराधी को तुम पहचानते हो ?

"जी हाँ, मेरा लड़का रमेश यही है।"

संकेत द्वारा ऐसा कहने को निषेध करते हुए वकील ने कहा—"आप ठीक से देखिए; राय साहब!"

भरे गले से वृद्ध बोला—"फिर झूठ कहूँ ? झूठ कहकर अपने वंश के कलंक को खरीदूँ ? गृह-सम्मान के सामने मृत्यु छोटी वस्तु है, वक़ील साहब !'

तब बारी थी निहार की। विचारक के सामने वह निर्भीक उत्तर दे रही थी—'यह मेरे पति रमेशचन्द्र नहीं हैं।"

"फिर कौन हैं ?"

"इनका नाम श्रीनिवास है।"

"रात में यह तुम्हारे पास आते थे?

"हाँ।"

"इससे तुम्हारा क्या सम्बन्ध है।

"यह मेरे प्रेमी और बचपन के साथी हैं।"

सब हतवाक् हो रहे थे। श्वसुर बेसुध होकर जमीन पर गिर पड़े; सास चीत्कार कर उठी—मेरे उज्ज्वल कुल में कलंक लगा।"

और गंभीर स्वर से तब पुकार उठा अपराधी—"निहार-निहार!"

उसने शान्त भाव से नेत्र उठाये, कहा—"हाँ, और इन्हीं का पुत्र मेरे गर्भ में है।

× × × × ×

ग्राम के बाहर पत्तों की बनी छोटी-सी झोपड़ी। कलंकिनी निहार के नाम से वह आज भी प्रसिद्ध है।

एप्रिल फूल

तृप्ति और अतृप्ति—विश्व में इन दोनों में मेल नहीं। स्वभाव ही इनका विपरीत है, फिर सामञ्जस्य हो भी कैसे ?

विकास था उसी अतृप्ति का जीवित रूप। विश्व की किसी भी वस्तु से उसे तृप्ति नहीं। ईश्वर ने उसे सब कुछ दे रखा था—घर-बार, धन-धान्य सब; किन्तु सदा वह खिन्न ही रहा करता, यहाँतक कि परिणीता पत्नी गीता से भी वह अतृप्त, खिन्न रहा करता। विवाह के बाद दो-चार दिन तो उसने पत्नी का कुछ आदर-सत्कार किया, उसके बाद आवर्जनास्वरूप घर के एक कोने में उसे फेंक दिया, बस। भूलकर भी न देखता उसकी ओर।

मित्रों की पत्नियाँ, बहनें आदि उसे बहुत सुन्दर लगतीं। किसी के पूछने पर वह कहता—'भाई, मेरा भाग्य ही ऐसा है। स्त्री मिली तो मैट्रिक पास, जब अन्दर आती है तब वहाँ से भाग जाना पड़ता है। और चेहरा ? राम-राम ईश्वर बचाये !'

यह सुन कोई मित्र विस्मय से कहता—'अजी, तुम भी जाने क्या कहते हो। उन्हें मैंने देखा तो नहीं है; किन्तु नीला को कहते सुना है कि बड़ी अच्छी हैं देखने में। रङ्ग जरा साँवला जरूर है। और गाना? वाह, वाह! क्या कहना! मैंने उनका गाना सुना है। पक्के गाने आप गाती हैं। उस दिन शाम को जब वे गा रही थीं तब उनके बिना जाने इसी कमरे से सुना था।'

'घण्टों आ-आ-आ-आ किया करती हैं। मेरे सिर में तो दर्द होने लगता है, जब वह गाती हैं तब घर छोड़कर भाग जाता हूँ। हाँ, गाना गाती है वह रामचन्द्र की बहन कान्ति। वाह-वाह! क्या कहना! जैसा रूप, वैसा गुण भी उसमें है।'

'चुप भी रहो भाई, जिसने उसे न देखा हो उससे कहो। और गाना? वह तो गजलें गाती है।'

'गजल-वजल तो नहीं जानता, उसका गाना मुझे अच्छा लगता है। रामचन्द्र, रमेश, परेश इन सबको पत्नियाँ और बहनें गाती हैं और बहुत अच्छा गाती हैं। देखने मे कैसी अच्छी हैं—गोरा रङ्ग है, बड़ी-बड़ी आँखें हैं।'

मित्र हँस पड़ता—'दूसरे की चीज अच्छी लगती ही है। घर का कोहनूर काँच-सा लगता है। कहो, ठीक है न? किन्तु सबको नहीं। मुझे तो मेरी पत्नी ही अच्छी लगती है। दूसरे की चीज पर ललचना! नहीं, छिः! यह तो मन की कमज़ोरी है, अपने आपको छोटा कहना।'

'तुम्हारी पत्नी सुन्दर है न, तभी ऐसा कहते हो।'

'मेरी पत्नी अति साधारण है, जो कुछ मुझे मिला है बस उसी से मैं सन्तुष्ट हूँ। बहुत की माँग नहीं भाई, मेरा मन ऐसा नहीं है।'

'किस बात की कमी है तुम्हें ? शिक्षिता, सुन्दरी पत्नी, घर-बार, सम्पदा—सब कुछ तो है।'

'और तुम्हें ? कौन-सी चीज नहीं है तुम्हारे पास ? मैं तो भाई, थोड़े में सन्तुष्ट रहनेवाला आदमी हूँ।'

'सब कुछ है' तभी ऐसा कहते हो। मैं तो भाई, थोड़े में सन्तुष्ट होनेवाला आदमी हूँ। एक कहावत है—जो व्यक्ति अपने दुःख का गीत सदा गाया करता है उसके दुःख-अभाव का अन्त कभी नही होता।' मुँह बनाकर विकास चल पड़ा।

सिनेमा-हाल में सुन्दर चित्र चल रहा था। जनता दृष्टि निबद्ध किये चित्र को देख रही थी। परन्तु विकास की दृष्टि उस ओर नहीं थी। पाश्र्व-देश में उपविष्ट तरुणी पर उसके लोभातुर नेत्र बार-बार पड़ रहे थे—'कैसी भोली है यह नारी ! सौभाग्यवान् होगा इसका पति, और मैं ? मैं हूँ अभागा।'

चित्र समाप्त होने के बाद वह सबसे पहले द्वार पर जाकर खड़ा हो गया। उस तरुणी के वास-स्थान को देखेगा न ? क्यों ? कदाचित् उसका स्वभाव ही हो लोभातुर। परन्तु दुर्भाग्य ! सारी रात सड़कों और गलियों में चक्कर लगाकर भी उस भागती हुई फिटन को ढूँढ़कर न निकाल सका।

रात्रि के जागरण की क्लान्ति से भोर में घोर निद्रा में निमग्न हो गया विकास, खुल पड़ा स्वप्न का मायाजाल—राज-प्रासाद, सिंहासनपर आरूढ़ महाराज, शत-शत सुन्दरियाँ राजा को घेरकर नृत्य-गीत में व्यस्त। राजा ? अरे, यह तो स्वयं वही है राजा-महाराजा।

वह आँखें गड़ाकर सुन्दरियों को देखने लगा। सुन्दरियों के झुण्ड में कृष्ण-सा वह किसी को प्यार करने, किसी की वेणी को पकड़कर खींचने लगा।

इस नारी का हाथ ? कोमल कहा है ? कोमलता दूसरी चीज है। इसे भी कहीं कोमल कहा जा सकता है ?

कितना छोटा है यह सिंहासन ? धत्, यह भी कोई सिंहासन है ? राम-राम ! उसकी आत्मा ने अतृप्ति की साँस ली।

'भैया, मुंशीजी पुकार रहे हैं !'

विकास ने आँखें खोल दीं। बहन उसे पुकार रही थी।

(२)

उस वर्ष नवद्वीप में बहुत बड़ा मेला था। दूर और निकट सभी जगहों से दर्शक आये थे। विकास भी उन दर्शकों में एक था। उसकी आँखें प्रत्येक वस्तु पर पड़तीं। वह लालायित होता और कहता, 'वह वस्तु कितनी सुन्दर है ! यदि वह मेरे पास होती !'

अन्त में उसकी दृष्टि एक अवगुण्ठिता युवती पर जा टिकी। यद्यपि उसका मुख नहीं दिखाई पड़ रहा था फिर भी श्वेत

सङ्गमर्मर से हाथ-पैर और अङ्गसौष्ठव—उसकी दृष्टि में अतुल
नीय था। विकास उसे देखता ही रह गया।

भीड़ को चीरती हुई युवती एक प्रौढ़ स्त्री के साथ चल दं
गङ्गा की ओर। विकास ने भी शीघ्रता से उसका अनुसरर
किया। 'जिसका अङ्गसौष्ठव इतना अधिक है; उसका मुख
न जाने कितना सुन्दर होगा!'—उसने सोचा।

'किन्तु मुखपर पड़ा यह अवगुण्ठन? इसे हटाया भी कैसे
जा सकता है?'—उसने सोचा। फिर दूसरे ही क्षण मन में हँस
उठा—'क्या यह काम इतना कठिन है? यह तो सहज बात है
न जाने कितनी ही रूपपरियों को इस रीति से देख डाला।'

'परन्तु इसे देखने से लाभ?'

उत्तर दिया मन ने—'वाह, पथ चलते समय सुन्दर वस्तु क
दृष्टि में समा जाना क्या कम लाभ है?'

पीछे से युवती के अवगुण्ठन को किसी ने खींचा। सशङ्क
वधू ने पीछे फिरकर देखा। अवगुण्ठन के भीतर से युवती को वह
खींचनेवाला दिखाई न पड़ा। भीड़ भी तो बहुत थी। इस बात से
सास भीत हुई, वधू का हाथ पकड़कर जल्दी-जल्दी चलने लगी

दूसरी बार किसी ने नारी को धक्का दिया। सर्पिणी-सी
अवगुण्ठिता युवती मुड़कर खड़ी हो गई और अपनी समग्र
शक्ति एकत्र कर जड़ दिया तमाचा उस अभद्र को। उस प्रहार
से विकास विकल हो उठा। दूसरे ही पल सुना—'अरे
जीजाजी, आप यहाँ?'

व्यक्ति निहार की उत्थित बाँहों में समा जाने को हुआ उसी पल अपने पर पड़े टार्च के लाइट से वह किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो रहा।

"रमेश—मेरा रमेश !"—पिता-माता उस व्यक्ति से लिपट गये और जब तक रमेश सहमा तब तक पुलिस उसे हथकड़ी पहना चुकी थी। निहार और माता-पिता चित्रार्पितवत् खड़े ही रह गये।

भुवन कह रहा था—"इन्सपेक्टर साहब, मेरा इनाम भूल न जाइयेगा !

सब कुछ समझ सकने के बाद पिता-माता हाहाकार कर उठे। उस चीत्कार से निहार की तन्द्रा टूटी।

पुलिस के घेरे में चलते-चलते रमेश पल भर के लिए रुका, बोला धीरे—"इस विलाप से तो अब कोई लाभ नहीं है निहार ! खोकर पाना अवसर-विशेष पर निर्भर है, परन्तु पाकर खोना तो अपने ही हाथ में है न !"

निहार ने आँखें उठाकर उस ओर देखा, पुलिस सिहर उठी, दर्शकगण आतंक से काँपने लगे—यह कहाँ का आग्नेय गिरि इस नारी की आँखों में फट पड़ा है ?

रमेश तब तक आँखों से आड़ हो चुका था। श्वसुर वधू के निकट पहुँचे, परम सम्मान से उसके माथे पर हाथ फेरते हुए कहा—"रुपये बरसा कर रमेश को वापस लाऊँगा, मेरे कुल का कलंक हटा, इससे बढ़कर खुशी मेरे लिए संसार में और क्या हो सकती है। मेरा नीचा सिर आज ऊँचा हो गया। किन्तु

इतने पर भी निहार के मुख-भाव का किञ्चित-मात्र भी परिवर्त्तन न हुआ, उसके अश्रुहीन नेत्रों में दृढ़ता की छाया व्याप रही।

सास स्नेह से वधू का हाथ थामें बोलीं—"तुम पर हमने इतने दिनों तक अन्याय, अत्याचार किया है। यद्यपि मूँछ और दाढ़ी ने मेरे रमेश की सुकुमार आकृति को ढाँक रखा है, तो क्या हुआ; मैं तो पल भर में अपने बच्चे को पहचान गई न! किन्तु यह तो कहो, कैसे यह सब हुआ। उसकी मौत की खबर क्या झूठी थी?" और सास देखकर विस्मित हुई कि निरन्तर वधू वैसे ही चल दी।

जनाकीर्ण विचारालय, कठघरे में वही अपराधी। अपराधी पक्ष के वकीलों में तब सरकारी वकील का वाद-विवाद चल रहा था। पिता पलक-हीन नेत्रों से अपराधी को देख रहा था।

विचारक ने पिता से पूछा—"अपराधी को तुम पहचानते हो?

"जी हाँ, मेरा लड़का रमेश यही है।"

संकेत द्वारा ऐसा कहने को निषेध करते हुए वकील ने कहा—"आप ठीक से देखिए; राय साहब!"

भरे गले से वृद्ध बोला—"फिर झूठ कहूँ? झूठ कहकर अपने वंश के कलंक को खरीदूँ? गृह-सम्मान के सामने मृत्यु छोटी वस्तु है, वकील साहब!'

तब बारी थी निहार की। विचारक के सामने वह निर्भीक उत्तर दे रही थी—'यह मेरे पति रमेशचन्द्र नहीं हैं।"

"फिर कौन हैं?"

"इनका नाम श्रीनिवास है।"

"रात में यह तुम्हारे पास आते थे ?

"हाँ।"

"इससे तुम्हारा क्या सम्बन्ध है।

"यह मेरे प्रेमी और बचपन के साथी हैं।"

सब हतवाक् हो रहे थे। श्वसुर बेसुध होकर जमीन पर गिर पड़े; सास चीत्कार कर उठी—मेरे उज्ज्वल कुल में कलंक लगा।"

और गंभीर स्वर से तब पुकार उठा अपराधी—"निहार-निहार !"

उसने शान्त भाव से नेत्र उठाये, कहा—"हाँ, और इन्हीं का पुत्र मेरे गर्भ में है।

× × × × ×

ग्राम के बाहर पत्तों की बनी छोटी-सी झोपड़ी। कलंकिनी निहार के नाम से वह आज भी प्रसिद्ध है।

———

एप्रिल फूल

तृप्ति और अतृप्ति—विश्व में इन दोनों में मेल नहीं। स्वभाव ही इनका विपरीत है, फिर सामञ्जस्य हो भी कैसे?

विकास था उसी अतृप्ति का जीवित रूप। विश्व की किसी भी वस्तु से उसे तृप्ति नहीं। ईश्वर ने उसे सब कुछ दे रखा था—घर-बार, धन-धान्य सब; किन्तु सदा वह खिन्न ही रहा करता, यहाँतक कि परिणीता पत्नी गीता से भी वह अतृप्त, खिन्न रहा करता। विवाह के बाद दो-चार दिन तो उसने पत्नी का कुछ आदर-सत्कार किया, उसके बाद आवर्जनास्वरूप घर के एक कोने में उसे फेंक दिया, बस। भूलकर भी न देखता उसकी ओर।

मित्रों की पत्नियाँ, बहनें आदि उसे बहुत सुन्दर लगतीं। किसी के पूछने पर वह कहता—'भाई, मेरा भाग्य ही ऐसा है। स्त्री मिली तो मैट्रिक पास, जब अन्दर आती है तब वहाँ से भाग जाना पड़ता है। और चेहरा? राम-राम ईश्वर बचाये!'

यह सुन कोई मित्र विस्मय से कहता—'अजी, तुम भी जाने क्या कहते हो। उन्हें मैंने देखा तो नहीं है; किन्तु नीला को कहते सुना है कि बड़ी अच्छी हैं देखने में। रङ्ग जरा साँवला जरूर है। और गाना? वाह, वाह! क्या कहना! मैंने उनका गाना सुना है। पक्के गाने आप गाती हैं। उस दिन शाम को जब वे गा रही थीं तब उनके बिना जाने इसी कमरे से सुना था।'

'घण्टों आ-आ-आ-आ किया करती हैं। मेरे सिर में तो दर्द होने लगता है, जब वह गाती हैं तब घर छोड़कर भाग जाता हूँ। हाँ, गाना गाती है वह रामचन्द्र की बहन कान्ति। वाह-वाह! क्या कहना! जैसा रूप, वैसा गुण भी उसमें है।'

'चुप भी रहो भाई, जिसने उसे न देखा हो उससे कहो। और गाना? वह तो गजलें गाती है।'

'गजल-वजल तो नहीं जानता, उसका गाना मुझे अच्छा लगता है। रामचन्द्र, रमेश, परेश इन सबकी पत्नियाँ और बहनें गाती हैं और बहुत अच्छा गाती हैं। देखने में कैसी अच्छी हैं—गोरा रङ्ग है, बड़ी-बड़ी आँखें हैं।'

मित्र हँस पड़ता—'दूसरे की चीज अच्छी लगती ही है। घर का कोहनूर काँच-सा लगता है। कहो, ठीक है न? किन्तु सबको नहीं। मुझे तो मेरी पत्नी ही अच्छी लगती है। दूसरे की चीज पर ललचना! नहीं, छिः! यह तो मन की कमजोरी है, अपने आपको छोटा कहना।'

'तुम्हारी पत्नी सुन्दर है न, तभी ऐसा कहते हो।'

'मेरी पत्नी अति साधारण है, जो कुछ मुझे मिला है बस उसी से मैं सन्तुष्ट हूँ। बहुत की माँग नहीं भाई, मेरा मन ऐसा नहीं है।'

'किस बात की कमी है तुम्हें ? शिक्षिता, सुन्दरी पत्नी, घर-बार, सम्पदा—सब कुछ तो है।'

'और तुम्हें ? कौन-सी चीज नहीं है तुम्हारे पास ? मैं तो भाई, थोड़े में सन्तुष्ट रहनेवाला आदमी हूँ।'

'सब कुछ है' तभी ऐसा कहते हो। मैं तो भाई, थोड़े में सन्तुष्ट होनेवाला आदमी हूँ। एक कहावत है—जो व्यक्ति अपने दुःख का गीत सदा गाया करता है उसके दुःख-अभाव का अन्त कभी नहीं होता।' मुँह बनाकर विकास चल पड़ा।

सिनेमा-हाल में सुन्दर चित्र चल रहा था। जनता दृष्टि निबद्ध किये चित्र को देख रही थी। परन्तु विकास की दृष्टि उस ओर नहीं थी। पार्श्व-देश में उपविष्ट तरुणी पर उसके लोभातुर नेत्र बार-बार पड़ रहे थे—'कैसी भोली है यह नारी ! सौभाग्यवान् होगा इसका पति, और मैं ? मैं हूँ अभागा।'

चित्र समाप्त होने के बाद वह सबसे पहले द्वार पर जाकर खड़ा हो गया। उस तरुणी के वास-स्थान को देखेगा न ? क्यों ? कदाचित् उसका स्वभाव ही हो लोभातुर। परन्तु दुर्भाग्य ! सारी रात सड़कों और गलियों में चक्कर लगाकर भी उस भागती हुई फिटन को ढूँढ़कर न निकाल सका।

रात्रि के जागरण की क्लान्ति से भोर में घोर निद्रा में निमग्न हो गया विकास, खुल पड़ा स्वप्न का मायाजाल—राज-प्रासाद, सिंहासनपर आरूढ़ महाराज, शत-शत सुन्दरियाँ राजा को घेरकर नृत्य-गीत में व्यस्त। राजा ? अरे, यह तो स्वयं वही है राजा-महाराजा।

वह आँखें गड़ाकर सुन्दरियों को देखने लगा। सुन्दरियों के झुण्ड में कृष्ण-सा वह किसी को प्यार करने, किसी की वेणी को पकड़कर खींचने लगा।

इस नारी का हाथ ? कोमल कहा है ? कोमलता दूसरी चीज है। इसे भी कहीं कोमल कहा जा सकता है ?

कितना छोटा है यह सिंहासन ? धत्, यह भी कोई सिंहासन है ? राम-राम ! उसकी आत्मा ने अतृप्ति की साँस ली।

'भैया, मुंशीजी पुकार रहे हैं !'

विकास ने आँखें खोल दीं। बहन उसे पुकार रही थी।

(२)

उस वर्ष नवद्वीप में बहुत बड़ा मेला था। दूर और निकट सभी जगहों से दर्शक आये थे। विकास भी उन दर्शकों में एक था। उसकी आँखें प्रत्येक वस्तु पर पड़तीं। वह लालायित होता और कहता, 'वह वस्तु कितनी सुन्दर है ! यदि वह मेरे पास होती !'

अन्त में उसकी दृष्टि एक अवगुण्ठिता युवती पर जा टिकी। यद्यपि उसका मुख नहीं दिखाई पड़ रहा था फिर भी श्वेत

सङ्गमर्मर से हाथ-पैर और अङ्गसौष्ठव—उसकी दृष्टि में अतुलनीय था। विकास उसे देखता ही रह गया।

भीड़ को चीरती हुई युवती एक प्रौढ़ स्त्री के साथ चल दी गङ्गा की ओर। विकास ने भी शीघ्रता से उसका अनुसरण किया। 'जिसका अङ्गसौष्ठव इतना अधिक है; उसका मुख न न जाने कितना सुन्दर होगा!'—उसने सोचा।

'किन्तु मुखपर पड़ा यह अवगुण्ठन? इसे हटाया भी कैसे जा सकता है!'—उसने सोचा। फिर दूसरे ही क्षण मन में हँस उठा—'क्या यह काम इतना कठिन है? यह तो सहज बात है। न जाने कितनी ही रूपपरियों को इस रीति से देख डाला।'

'परन्तु इसे देखने से लाभ?'

उत्तर दिया मन ने—'वाह, पथ चलते समय सुन्दर वस्तु का दृष्टि में समा जाना क्या कम लाभ है?'

पीछे से युवती के अवगुण्ठन को किसी ने खींचा। सशङ्क वधू ने पीछे फिरकर देखा। अवगुण्ठन के भीतर से युवती को वस्त्र खींचनेवाला दिखाई न पड़ा। भीड़ भी तो बहुत थी। इस बात से सास भीत हुई, वधू का हाथ पकड़कर जल्दी-जल्दी चलने लगी।

दूसरी बार किसी ने नारी को धक्का दिया। सर्पिणी-सी अवगुण्ठिता युवती मुड़कर खड़ी हो गई और अपनी समग्र शक्ति एकत्र कर जड़ दिया तमाचा उस अभद्र को। उस प्रहार से विकास विकल हो उठा। दूसरे ही पल सुना—'अरे, जीजाजी, आप यहाँ?'

विद्युत-वर्ण सूर्यकान्ति उपस्थित हुए। यथाविधि प्रणाम कर अपने आसन पर बैठ गये।

गम्भीर निस्तब्धता को भेदकर ब्रह्मा के वेद-मंत्र-सा स्वर उत्थित हुआ—"वत्स सूर्यकान्ति, सामने आओ।"

सूर्यकान्ति सामने खड़ा हो गया।

"कहो दूत, संसार-भ्रमण कर क्या देखा ?

सभा-निर्वाक होकर सुनने लगी—

"कहीं ईर्ष्या, लोलुपता, अत्याचार, अन्याय परिपूर्ण है! कहीं शोक, रोग, दुर्भिक्ष, विशेषतः हिन्दुस्तान तो दुर्भिक्ष से पूर्ण है।"

"दुर्भिक्ष ?"

"हाँ प्रभु, घोरतर अकाल, अन्नाभाव से मनुष्य पतंग की तरह मर रहे हैं। मृत शव की दुर्गन्ध से वायु दूषित हो रही है। व्याधियाँ फैल रही हैं।"

"ऐसा ?" कहने लगे ब्रह्मा—"मैंने कहा न इन्द्र, वास्तविक शिक्षा के अभाव ही से यह सब अनर्थ उपस्थित है। हिन्दुस्तान में वास्तिवक शिक्षा का विस्तार करना ही आज इस कान्फरेन्स का उद्देश्य है। जरूरत है जागृति की। प्रत्येक देश में जागृति की जरूरत है। हिन्दुस्तान में वास्तविक शिक्षा का पूर्ण अभाव है। अच्छा सूर्यकान्ति, हिन्दुस्तान में तुमने शिक्षा-विषयक जागृति कैसा देखा ?"

"देव, अनेक जागृति हैं।"

"ऐसा ?"

"हाँ प्रभु, काँग्रेस की धूप-छाया में हिन्दुस्तान की राष्ट्रीय जागृति इन दिनों प्रशंसनीय हो रही है। हिन्दुस्तान आज अपनी सत्ता, अपना अधिकार समझने और सोचने लगा है। हिन्दुस्तान में अभाव है जागृति की।"

"और एकता की भी ?"

"हाँ प्रभु, बिना एकता के उसका एक दिन विनाश, ध्वंस अनिवार्य है।

"अच्छा, इसपर विचार करेंगे। किन्तु दूत तुमने विश्व में विश्व-भ्रमण में बहुत ही देर लगा दी: जिससे कि हमारे काम में बाधा पहुँची, देर हुई।"

"प्रभु, मेरे विलम्ब का कारण है।"

"वह क्या ?"

"हिन्दुस्तान के एक छोटे से स्थान में मैंने एक जानवरों का देश देखा, वहाँ की एक अद्भुत नीचता मेरे विलम्ब का कारण है।"

"जानवरों का देश ? कहो-कहो दूत, आखिर बात क्या है ?"

"हिमालय की तलहेटी पर एक छोटा-सा शहर बसा है—शीत के पलने पर बैठा हुआ लगता वह देश एक सजल चित्र ही-सा। चलता-फिरता पहुँचा मैं उस देश में। देखी मैंने वहाँ एक वृहत् पशुशाला, मानव-रूपी जन्तुओं का शिक्षालय वह ! नारी पशु वहाँ पढ़ा करतीं।"

"यदि वह मनुष्य है तो पशु कैसे ?" देवी पार्वती ने पूछा।

"परन्तु देवि, आचरण, स्वभाव, रुचि आदि ही न मनुष्यत्व और पशुत्व की परिभाषा है। पशु ? किन्तु मेरे विचार से पशु से भी अधम। पशु में भी कृतज्ञता, ईमानदारी और महत्त्व कुछ रहता है, किन्तु उन जानवरों के जत्थे में मैंने जो भी देखा, जो भी पाया वह मनुष्यत्व की कौन कहे, पशुत्व से भी अधम है।"

"कहो-कहो दूत !" —उतावली से गणेश ने पूछा।

तब कहने लगा दूत गंभीर स्वर से—"सत्य के नाम पर निपट मिथ्या को देखा। पाया वहाँ स्वार्थ और बेईमानी के जीवन्त रूप को। और देखा कुत्सित पार्टी पालिटिक्स को, जिस दलबन्दी की परिधि में मनुष्य बन बैठा है पशु ! दलबन्दी, अधिकार की लालसा, दो पार्टियाँ सदा लड़ाई-झगड़ा करतीं।"

"क्यों ?"

"केन्द्र है वही पशुशाला। उसी पर अधिकार पाने के लिए वह पशुत्व का प्रदर्शन, घृणित नृत्य ! देव, आप सुनकर विस्मित होवेंगे कि वह अधिकार पाने की लालसा ऐसी प्रबलतर है कि अपने घर की माँ-बहनों का अपमान करने में भी उनका पशुत्व विमुख नहीं होता।"

"ऐसा ? किन्तु इस शिक्षा-मार्जित-विश्व की रुचि में ऐसा कुत्सित पशुत्व और अब भी वह पशुत्व प्राणहीन नहीं हुआ ? विस्मय केवल इस बात पर है, दूत !"—कहा पार्वती ने।

ब्रह्मा ईषत् मुस्कुराये। कहा—"उसके बाद सूर्यकान्ति ?"

"प्रभु, एक दिन--हाँ, उस जानवरों के देश में भूली-सी पहुँच गई मानव-कन्या--अपूर्व प्रतिभा लिये। उस अपूर्व प्रतिभा को देखकर पशुशाला स्तब्ध रह गया।"

"उसके बाद ?"

"कह रही हूँ, प्रभो ! उस पशु-पाठशाला में उस कन्या ने युगान्तर उपस्थित कर दिया, प्रभो ! सुनियम, सुशृंखला, दया-धर्म, सेवा का उसने एक समुद्र-सा बहा दिया। विद्यादान से उन नारी-पशुओं के उन्नति-विधान की चेष्टा करने लगी। क्रमशः बन गई वह कन्या वहाँ का प्राण !"

"तब !"

"रोग-पीड़ा में बड़ी बहन का स्नेह-प्रेम, ममता लेकर वह पशु-पाठिकाओं की देखभाल, सेवा यत्न से करती। उनके कष्टों को दूर करती, उनके अभावों को पूरा करती।"

"ऐसा ?"

"हाँ देव, दिन कटते, पशु-पाठिकाएँ उस मानव-कन्या का भक्त बन जातीं। बहन कहती हुई वह बावली-सी होतीं।"

"तब क्या हुआ, दूत !"

"मैं सब कुछ देखता-सुनता और फिर भी मैं आशंका से सिहर उठता, कान में लगकर उस कन्या से मैं कहता—बेटी, होशियार, होशियार, इन पशु-सर्पिणियों से होशियार ! किन्तु खेद, उसने एक न माना। अपने सत्य पर, अपनी निष्ठा, दृढ़ता

पर प्रतिष्ठित वह, न्याय-पथ पर दम्भ के साथ चलती। फिर भी, मैंने उसे सचेतन किया—सावधान-सावधान, खल अपना स्वभाव नहीं बदल सकता, विषधर सर्प कभी भी अपने स्वभाव को भूलता नहीं, एक दिन कहीं तुम्हें भी न डँसने को दौड़े, बेटी, सावधान !"

"दुनियाँ यदि बदल जावे तो बदला करे, मैं जो हूँ वही रहूँगी, नहीं बदल सकती हूँ ।"

"क्या उस पशुशाला से आश्रम में केवल एक मानव-कन्या ही थी और सब के सब पशु थे ?"—पूछा प्रजापति ने।

"नहीं, देवता, उस कन्या को लेकर तीन-चार और भी मानव थे। उस पशुशाला की उन्नति के लिए उन तीन-चार मानवों की अक्लान्त चेष्टा वर्णनातीत तथा प्रशंसनीय थी—मानव नहीं, वरन् उन्हें देवता भी कहा जा सकता है, उस शाला की उन्नति के नाते। वरन् उनने उसकी काया पलट ही कर दी थी।"

"ऐसा ! तब क्या हुआ ?"

"मैं फिर बोला, बेटी सावधान !"

"यह सब मुझे बहन कहती हैं, बिना कारण इन्हें कैसे त्यागूँ ?"

"देवबाले, सावधान, यह सब उनलोगों का मुँह का है। जानवर अपना स्वभाव नहीं भूल सकते।"

"किन्तु दुनियाँ इतने नीचे नहीं उतर गई है कि एक बहन का, बहन सम्बोधन का अपमान कर सके।"

"उसके बाद ?"

"उसके बाद ? वही हुआ जो मैंने सोचा था, कहा था।"

"याने ?"

"पार्टी पालिटिक्स के जत्थे ने एक दिन विष उद्गिरण करना शुरू कर दिया। पशुत्व ने अपने स्वभाव का विस्तार किया। पशु-कन्याओं ने अपना-अपना छद्म आवरण फेंक दिया और उस जत्थे में जा मिलीं। विष-दन्त निकालकर उस मानव-कन्या तथा उन दो-तीन मानवों को काटने को दौड़ी।"

"दूत-दूत, क्या कह रहे हो ?"

"वही ही प्रभु, बेईमान जानवर ईमानदारी क्या जाने ? जानता है अपना स्वभाव और स्वार्थ। सो तब पशुत्व ने अपना वास्तव रूप दर्शाया।"

"क्या उस देश में केवल जानवरों का ही अधिकार है ?"

"हाँ, अधिकांशतः, मानव उस देश में जानवरों की संख्या से कम है।"

"परन्तु उनने साधन क्या बनाया ?"—ब्रह्मा ने पूछा।

"उस पशुशाला में नियमादि भी हैं। तो सभी पशुओं ने एक दिन नियम भंग किया, जिसमें कि कुछ थोड़ी-सी ने उस नियम-भंग में भाग नहीं लिया। तब उन भाग न लेनेवालियों पर वे कन्याएँ भूखी शेरनी-सी झपटीं। वे भागीं, आश्रय—

आश्रय चिल्लाने लगीं—भयभीत होकर। किन्तु लज्जा, किसी ने उन्हें आश्रय न दिया। तब वे लोग भागी-भागी पहुँचीं मानव कन्या के द्वार पर। बोलीं—'देवि, हम सब को बचाओ, तुम्हारी शरणागत हैं!"

'शरणागत ?' मानव कन्या ने सुना उस भिक्षा को, खोल दिया द्वार, कहा संयत दृढ़ता से—"बहनो, तुम शरणागतों को अपनी जान देकर भी जगह दूँगी, डर किस बात का है? आओ, यह घर तुम्हारा है।"

"शाबाश—शाबाश!" देवताओं ने समस्वर से कहा।

"देवी—मानव-कन्या देवी!" देवियों ने गुनगुनाया।

और तब कह चला सूर्यकान्ति—मैंने उसके कान में लगकर कहा—

"बेटी, सावधान—सावधान!"—कन्या जरा-सी शान्त हँसी हँसी।"

"उसके बाद?"

"तब वह सब स्त्री-पशुएँ विषधर सर्पिणी की भाँति काटने को दौड़ीं मानव-कन्या को—अपने घर की बहन को, शिक्षा-गुरु को। वही गुरु—जिसने कि अपने शरीर के रक्तविन्दु को बहाकर उन्हें मानव बनाना चाहा, उनकी सेवा की—रोग-पीड़ा में। उनकी भलाई सोची, दीर्घ दिन तक साथ-साथ रहकर अपनेपन का अधिकार दिया। हाँ, उसी अपने घर की ऐसी एक बहन को काटने को दौड़ीं।"

"पशुत्व अपना स्वभाव नहीं भूल सकता है।"—पार्वती ने कहा।

"कन्या ने देखा एवं शायद लिया भी काम उस व्यवहार सयंत शान्ति से। देखा, उस दलबन्दी के कुत्सित, घृणित, जघन्य रूप को। कहा—कई एक ने—'बदला लो, मानव-कन्या!' 'बदला?' वह उदार हँसी हँसी—'किन्तु किससे लूँ? जिन्हें एक दिन बहन कहा, बहन माना, उनसे?' सत्य के निकट मिथ्या कबतक टिक सकी है, मनुष्यत्व के निकट पशुत्व कबतक जी सका है? आज इस निन्दनीय कुत्सित आचरण के लिए क्या मैं अपने हृदय को छोटा करूँ? अपनी आशीर्वाद की झोली में अभिशाप भर दूँ? नहीं—नहीं, ऐसा नहीं हो सकता है। मैं आदमी हूँ, भाई!"

"उसके बाद?"

"उसके भी बाद? वह हँसकर चल दी। तब रो रही थी वहाँ की मनुष्य जनता, हँस रहा था पशु-समाज। उस अपूर्व झमेले में वह वहाँ की गन्दी हवा से निकलकर स्वच्छ, शीतल वायु में चल दी।"

"ऐसा एक जानवरों का देश? ले चलो दून, मैं देखूँगी।"—कहा पार्वती ने।

"नहीं बहन!"—कहने लगीं लक्ष्मी—"उस जानवरों के देश में—जहाँ मनुष्य के महत्त्व का सम्मान दलबन्दी में पिसकर एकाकार हो जाता हो, जहाँ दलबन्दी की कुष्ट व्याधि से वायु

दूषित हो, जहाँ नारी का सम्मान नहीं रखा जाता हो। इस सभ्य जगत् में जहाँ एक ऐसा असभ्य देश एवं जहाँ की ऐसी बर्बर सभ्यता हो, जहाँ बेईमानी ही प्रधान हो, जहाँ अपने ही घर की माँ-बहन को नखाघात किया जावे, ऐसे एक कलंकित स्थान में नारी-मात्र का जाना निषिद्ध है। इसी मनःवृत्ति पर भारतवासी स्वाधीनता माँगते हैं ? जो कि अपने ही घर को नहीं सँभाल सकते, अपने ही घर में कीचड़ उछालते हैं ! वह बाहरी दुनियाँ को, इतने बड़े हिन्दुस्तान को कैसे सँभाल सकेंगे, पार्वती ? यही मैं सोच रही हूँ।"

दूत ने तब कहा—"प्रभो, शिक्षा का परिणाम यदि ऐसा भयानक है, तब ऐसी शिक्षा का विनाश होना ही काम्य है। यह कैसी शिक्षा है; देव ?"

"भूल समझ रहे हो, दूत ! जहाँ का वातावरण ही पशुत्व पूर्ण हो, वहाँ शिक्षा का महत्त्व कैसे हो सकता है ? जहाँ का वातावरण शुद्ध सुन्दर आत्मा ही को निगल खाता हो, वहाँ शिक्षा कर ही क्या सकती है ? परन्तु सत्य है अनादि, ज्योतिपूर्ण, और मिथ्या है कलंकित, काला, वह विनाश-युक्त है, इसे मत भूलना !"

कुछ देर के लिए सभा निस्तब्ध हो रही। उस स्तब्धता को भंग कर पूछा शिव ने—"उस पशुशाला में किस-किस जाति के पशु हैं, दूत ?"

"गुलबाघ, शृगाल, गधा और काली नागिन। एक शृगाल

यदि पुकारता है तो बिना कारण ही और बिना कुछ समझे-बूझे ही दूसरे सब शृगाल चिल्लाने लगते हैं—हुआँ—हुआँ !"

"और गुलबाघ ?"

"वह दाँव-पेंच में रहते हैं कि कब कौन उनके फन्दे में, दाँव में फँस जावे।"

"और नागिन ?"

"जो भी उन्हें दूध पिलाता है, आराम से रखता है, उसे ही डँस लेती हैं।"

" और गधे ?"

"उनके स्वभाव का क्या कहना, गन्दगी फैलाना, बिना कारण चिल्लाना, बेवकूफ-सा रेंकना उनका स्वभाव प्रधान है।"

"प्रभो, वैसा एक पशुशाला, जहाँ मानव पशुत्व में परिणत हो जाय—उसका विनाश क्यों नहीं कर दिया जा रहा है ?"

लक्ष्मी की बात सुनकर ब्रह्मा ईषत् मुसकराये—"देवि, क्या जरूरत है इसकी ? मिथ्या, अन्याय, अत्याचार और पशुत्व कबतक जीवित रह सका है ? जिस अग्नि-शिखा को पशुशाला ने जलाया है, उसी अग्नि-ज्वाला में तिल-तिलकर एक दिन स्वयं उसका ध्वंस हो जाना, जलकर निश्चिन्त हो जाना अवश्यम्भावी है।"

"देव ?"

"हाँ, देवी पार्वती, जो अपने ही आत्मा से प्रतारणा करता

है, वह भी कहीं जीवित रह सका है ? मिथ्या की काया में अपने ही आत्मा के हत्यारे का जीवन है भी कितना ?"

कर जोड़कर सूर्यकान्ति ने कहा—"किन्तु प्रभु, उनका शास्ति-विधान उचित भी है।"

ब्रह्मा उदार हँसे—"सूर्यकान्ति, मेरी दी हुई शास्ति उतनी तीव्र, वैसी गुरु नहीं हो सकेगी—जितनी कि अपने पाप से वे स्वयं ही पा जावेंगे।"

देवता-मण्डली निर्वाक रही।

परन्तु देवियों के मन में एक उत्सुकता रही ही गई उस पशुशाला को देखने की !

———

लेखक

बात ऐसी है कि पृथ्वी में प्रायः सब कामों में, सब क्षेत्रों में मतभेद है और रहेगा भी, किंतु फिर भी पृथ्वी में बराबर एक नवीनता रहती है और रहेगी।

ऐसी दशा में कैसे कहा जाय कि घनश्याम बिहारी 'श्याम-हृदय' जन्म-सिद्ध लेखक था या उसकी शिक्षा ने उसे लेखक बना दिया था।

लोग उसे जन्म-सिद्ध लेखक कहते थे, अब चाहे वह स्वतः-सिद्ध लेखक हो, यानी ईश्वर के घर से प्रतिभा लेकर आया हो या माता-पिता की प्रतिभा का उत्तराधिकारी बना हो, अथवा शिक्षा और परिस्थिति उसके गुरु बने हों—कुछ भी हो, पर इस प्रकार के तर्क में पड़ने से कहानी अधूरी रह जाती है, यह भी सही है।

वास्तव में बात यह थी कि 'श्याम-हृदय' उच्च श्रेणी का लेखक था। उसकी श्रेणी में सरस्वती विराजती थीं, उसकी

प्रतिभा को देख-सुनकर पाठक स्तब्ध रह जाते थे—घर में माँ-बहनें अवाक् रहती थीं और यदि पत्नी रहती तो शायद—नहीं, जाने भी दो उस बात को।

एक तो लंबा-चौड़ा शानदार नाम, उस पर कवि और लेखक। लेखक भी ऐसा कि दुनियाँ को जिसे अपने लिए ईश्वर की देन समझना चाहिए था, किंतु दुनियाँ ने उसका आभार तक न माना और न उसकी ओर सहानुभूति ही प्रकट की।

मासिक-पत्रों में उसकी रचनाएँ प्रतिमास जातीं जरूर, किंतु उन्हें छपते किसी ने न देखा। प्रतिमास 'श्याम' नवीन आशा से मासिक पत्रों के पन्ने उलटता पर गंभीर निराशा से उसका मन रो पड़ता। वह कभी लेखनी स्पर्श न करने की प्रतिज्ञा करता, कभी संसार से विमुख हो जाता; कभी सारे संपादकों को अभिशाप देता; किंतु विस्मय यह है कि इतने पर भी वह नवीन उत्साह लेकर लिखने बैठ जाता। घर के पैसों का खून कर कागज़ कलम, स्टैंप खरीदता; फिर आने दो आने के स्टैंप रचनाओं के साथ भेजकर संपादकों को विनय के साथ लिखता, यदि लेख मनोनीत न हो तो वापस कर दीजिए।

दो-चार महीने तक जब लेख न छपते तो पत्र लिखता। कभी कोई उत्तर दे भी देता तो यह कि—आपकी रचना खो गई है। बस। और फिर भी श्याम घड़ी बेंचकर मासिक-पत्रों का वार्षिक चंदा देकर ग्राहक बना रहता। कभी प्रबंध लिखता, कभी कहानी-कविता, कभी उपन्यास।

माँ कहती—'तुम साहित्य की सेवा करना चाहते हो तो करो, मैं रोकती नहीं, किंतु जीवन-निर्वाह के लिए भी तो कुछ करना चाहिए। इस तरह कब तक चल सकता है ?'

श्याम बात को समझना चाहता, उद्योग धंधे में मन लगाना चाहता, किंतु मन उसका रमा रहता लेखों के भीतर। लेखनी त्यागते ही मानों उसका मन रो पड़ता था। वह पूर्ण उत्साह से लिखता और उसी प्रकार आशा, आश्वास के साथ अपनी रचनाएँ प्रकाशनार्थ भेज देता था। किंतु वास्तविक प्रतिभा को दुनियाँ देख कर भी जैसे देखना न चाहती थी—उसकी प्रतिभा उसी में पड़ी सड़ा करती थी—दुनियाँ उसे या तो अस्वीकार करना चाहती थी या जानबूझ कर उसकी उपेक्षा करती था।

(२)

श्याम निराश व्यथा से देखता कि कैसे असार लेखों से मासिक-पत्र भरे रहते हैं। वह रोष से मन ही मन कुढ़ता रहता था।

जब वह उस दिन मित्र के घर न्योते में पहुँचा तब वहाँ पर साहित्य-सम्राट अर्जुन की नवीन रचना 'अविचार' पर आलोचना चल रही थी। आलोचना कहना ठीक नहीं—यों कहना उचित होगा कि प्रशंसा और श्रद्धा की अंजलि दी जा रही थी। अर्जुनजी हिंदी के श्रेष्ठतम कलाकार थे।

हिंदी की श्रेष्ठ मासिक-पत्रिका 'बाँसुरी' मेज पर पड़ी हुई थी और निमंत्रित सज्जनगण उस पर झुके थे।

'अब तक अर्जुन जी ने जो लिखा सो लिखा ही, लेकिन इस 'अविचार' नामक लेख में उन्होंने जो कुछ लिखा है उसे पढ़ कर क्या कोई कह सकता है कि हिंदी साहित्य दुनियाँ के किसी भी सभ्य साहित्य से पीछे है ?'—एक सज्जन ने कहा। दूसरा कह उठा—'जिस साहित्य में ऐसे-ऐसे धुरंधर लेखक हों, उस साहित्य की भी कोई उपेक्षा कर सकता है ?'

रोमांचित और आनंदविभोर 'श्याम' सब कुछ सुनता रहा। फिर एक मनोरम स्वप्न में डूबा हुआ, भोजन समाप्त करके घर लौट आया।

अँधेरे कमरे में श्याम उसी 'बाँसुरी' पत्रिका को हृदय से लगाकर पड़ा हुआ था। उसका श्वास क्षुब्ध नहीं, तृप्त था, मानों विश्व की दौलत का आज वही मालिक हो। इतने दिनों की साधना उसकी सफल हो गई थी। उसे लग रहा था—ऐसा आनंद उसे कभी मिला ही नहीं।

(३)

विचारालय में उस दिन भीड़ अधिक थी। अपराधी था श्याम। चोरी-प्रतारणा के अपराध में आज वह अपराधी के रूप में खड़ा था।

चोरी ? हाँ, वह अद्भुत चोरी थी। सोना, चाँदी, लकड़ी, अनाज की नहीं—बिल्ली, कुत्ते की नहीं—मनुष्य की भी नहीं—चोरी थी नाम की। उस पर मजा यह कि चोर, जालिया 'श्याम' अदालत के सामने अकड़ा-अकड़ा खड़ा मुसकरा रहा था।

'तो आप स्वीकार करते हैं कि अपने चोरी की ?' सरकारी वकील ने पूछा।

'हाँ, महाशय !' निर्भय होकर 'श्याम' ने उत्तर दिया।

'चोरी ही नहीं जालसाजी, प्रतारणा, पब्लिक को धोखा देना, साहित्य को धोखा देना।'—साहित्य सम्राट अर्जुन जी कहने लगे—'अपने लेखों पर लेखक के स्थान में मेरा नाम लिख कर इसने भारी जालसाजी की है।'

श्याम खड़ा मुसकुराने लगा।

'ऐसा क्यों किया, आपने ?' विचारक ने पूछा।

'क्योंकि मेरी प्रतिभा दबी-दबी मरने को हो गई थी। मैंने जब देखा कि यह युग दलबंदी का है, लोग अपनी पार्टी के बाहर जाना नहीं चाहते, तो मैंने सोचा कि अपनी ऐसी प्रतिभा का गला घोंटने से साहित्य को गहरी हानि पहुँचेगी। फिर मैं साहित्य का सच्चा सेवी कैसे चुप बैठा रहता ? इस युग की विशेषता है नाम के बल पर पार लगना—चाहे चीज़ सड़ी-गंदी क्यों न हो—गुण के बल पर नहीं।' अदालत मुसकरा पड़ी। कुछ सज्जनों ने सर नीचा कर लिया, कदाचित् घृणावश या लज्जावश।

'चोरी करना अपराध है, आप जानते हैं न ?'

'ज़रूर !'

'तो आप सज़ा के लिए भी तैयार हैं ?'

'मैं ? परंतु पहले मेरे गुरु को दंड मिलना चाहिए—पीछे मुझे'। श्याम का यही शांत उत्तर था।

'आपके गुरु ? तो क्या इसकी कोई पाठशाला भी है और उसमें अनेक छात्र भी हैं ? कहिए महाशय, उन गुरु और पाठशाला का नाम क्या है।'

वह खिन्न होकर हँसा—'यही बतलाना तो मैं चाहता था—पर किससे कहूँ, कोई सुननेवाला भी तो हो।'

और इसके बाद अदालत के हजार पूछने पर भी श्याम का मौन गंभीर होकर रह गया।

'तो आप स्वीकार करते हैं कि अपने चोरी की ?' सरकारी वकील ने पूछा।

'हाँ, महाशय !' निर्भय होकर 'श्याम' ने उत्तर दिया।

'चोरी ही नहीं जालसाजी, प्रतारणा, पब्लिक को धोखा देना, साहित्य को धोखा देना।'—साहित्य सम्राट अर्जुन जी कहने लगे—'अपने लेखों पर लेखक के स्थान में मेरा नाम लिख कर इसने भारी जालसाजी की है।'

श्याम खड़ा मुसकुराने लगा।

'ऐसा क्यों किया, आपने ?' विचारक ने पूछा।

'क्योंकि मेरी प्रतिभा दबी-दबी मरने को हो गई थी। मैंने जब देखा कि यह युग दलबंदी का है, लोग अपनी पार्टी के बाहर जाना नहीं चाहते, तो मैंने सोचा कि अपनी ऐसी प्रतिभा का गला घोंटने से साहित्य को गहरी हानि पहुँचेगी। फिर मैं साहित्य का सच्चा सेवी कैसे चुप बैठा रहता ? इस युग की विशेषता है नाम के बल पर पार लगना—चाहे चीज़ सड़ी-गंदी क्यों न हो—गुण के बल पर नहीं।' अदालत मुसकरा पड़ी। कुछ सज्जनों ने सर नीचा कर लिया, कदाचित् घृणावश या लज्जावश।

'चोरी करना अपराध है, आप जानते हैं न ?'

'ज़रूर !'

'तो आप सज़ा के लिए भी तैयार हैं ?'

'मैं ? परंतु पहले मेरे गुरु को दंड मिलना चाहिए—पीछे मुझे'। श्याम का यही शांत उत्तर था।

'आपके गुरु ? तो क्या इसकी कोई पाठशाला भी है और उसमें अनेक छात्र भी हैं ? कहिए महाशय, उन गुरु और पाठशाला का नाम क्या है।'

वह खिन्न होकर हँसा—'यही बतलाना तो मैं चाहता था—पर किसके कहूँ, कोई सुननेवाला भी तो हो।'

और इसके बाद अदालत के हज़ार पूछने पर भी श्याम का मौन गंभीर होकर रह गया।

————

आरती

मृत्यु का इतिहास कदाचित विश्व-मानव नहीं लिख पाया हो, परन्तु उसने ही, उसकी निष्पाप, निर्दोष आँखों की दृष्टि ने ही तो उसके सिनेमा एक्ट्रेस होने का इतिहास धरती के आँचल में सुवर्ण अक्षरों में लिख दिया था न ! उसी आरती को।

किस दारिद्र, किस अभाव और एक सर्वग्रासी असहाय अवस्था ने तिल-तिल पर सिनेमा के वातावरण में उसे ढकेल दिया था। आरती को ऐसी धीरता व प्रयोजन का क्या है जो वह उस कथा को तुलसीदल हाथ में लेकर संसार को सुनाने बैठे ? उसका कहना था यही न कि संसार दुर्बल का साथी कब हुआ है ? वह तो बलवान का पृष्ठपोषक है न ! उसकी रामकहानी पर कब और कौन विश्वास करना चाहेगा ?

नहीं, ऐसे एक संसार से वह कुछ भी कहना नहीं चाहती। यदि माँ उसकी सहायहीना विधवा थी, तो अपने आपके लिए

थी। यदि वह किसी गृहस्थ के घर में काम करती थी और अपना तथा लड़की का गुजारा करती थी, एवं पद-पद में विश्वव्यापी युद्ध के लिए मँहगाई, और दो सेर की बिक्री पर आधे पेट भोजन के लिए दिन-रात गृहस्वामिनी की झिड़कियाँ सुना करती थी तो वह भी अपने ही लिए था। नहीं ही कहना चाहेगी आरती संसार से पिता के धन, सुख, ऐश्वर्य की कथा एवं किस युद्ध-राक्षस ने घर, गृहस्थी, धन, जमीन, जमींदारी और स्वयं पिता को निकालकर उन दोनों स्त्रियों को धनहीन, आश्रयहीन, घर-गृहस्थी छीनकर जन्म-स्थान से बिताड़ित ही नहीं वरन् पथ की भिखारिनी बना दिया था सो भी नहीं कहना चाहेगी।

सो यह भी नहीं कहना चाहेगी आरती कि माता की मृत्यु के पश्चात् संसार ने उसे किस प्रकार विरक्त कर वेश्या की संकीर्ण परिधि में खींचना चाहा था—और प्रभु-पुत्र ने तथा उसके मित्रों ने किस प्रकार उसे पाप की गलियों में ढकेलना चाहा था। और अर्द्धरात्रि की निस्तब्धता को चीरकर किस प्रकार से उसे उन्मादिनी-सी, उद्देश्यहीना भोगना पड़ गया था। तब उस वृहत् अट्टालिका के द्वार पर पड़े उसका अचेतन शरीर किस प्रकार सिनेमा के प्रोप्राइटर की आँखों में दया को मूर्तिमान कर सका था।

नहीं, यह सब वह कुछ भी संसार से नहीं कहना चाहेगी, क्यों? क्योंकि उसका कहना था, यदि सुननेवाला कोई कदाचित्

मिल भी जावे संसार में, परन्तु उस दुःखद किन्तु सत्य-कथा पर विश्वास करना संसार के लिए तो एक हास्यास्पद व्यापार है न ?

थी वह सिनेमा की एक्ट्रेस, बस इतना ही। उसका इंगुर रङ्ग-सा रूप, उसका सुगठित यौवन और देवकन्या-सी पावन आँखों की दृष्टि। बस, यही थे उसके साथी। रहती वह दरिद्र पल्ली के छोटे किन्तु साफ-सुथरे गृह में। सिनेमा में उसे कभी कोई छोटा पार्ट, दासी का पार्ट मिल जाता। अत्यन्त सुन्दरता से वह उसे निभाती।

कभी कोई अभिनेता उसके अभिनय की प्रशंसा करता; वह चुप रह जाती। हृदय आहत-अभिमान से भर उठता। वह सोचती—कैसा अन्यायी है संसार ? है यहाँ केवल नाम की पूजा। क्या वह यहाँ की प्रधान अभिनेत्री मीरा से अभिनय में किसी प्रकार कम है।

तो ? नाम उसका निकल गया है न ! कभी किसी एक पार्ट को कदाचित् उसने निभा दिया हो। और तब प्रशंसक दल ने उसे उठाकर स्वर्ग में पहुँचा दिया। बस, है तो इतनी ही सी बात न ! वह है नव आगन्तुक, तभी न बीन-बीनकर उसे दासी का पार्ट दिया जाता है। उन पार्टों में अपनी कला को विकसित करने की जगह भी तो नहीं रहती।

और नायिका का पार्ट ? चाहे कोई कैसी भी अभिनेत्री

क्यों न हो, नायिका के पार्ट में कुछ तो कर दिखलायेगी ही। उसमें कला-विकास का स्थान यथेष्ट रहता है न।

शारदा ?—है, विख्यात अभिनेता शारदा जब उस दिन उसके अभिनय की प्रशंसा कर रहा था, तब किस घृणा और परिहास से मीरा ने मुँह फेर लिया था। और तभी घृणा-विराग से सोचती आरती—संसार से तो उसका परिचय दीर्घ दिन का है। फिर इन बातों के लिए सिर पीटना कैसा ?

(२)

रिहर्सल नाट्यशाला में चल रहा था, चित्र के बाद चित्र लिये जा रहे थे। कम्पनी का इस बार का चित्र प्रस्तुत हो रहा था—'दुर्गापूजा।'

थी एक वृहत् प्रतिमा—अलंकार वस्त्रपरिहित। नाना विधि आडम्बर, आयोजन! उसे सेविका का पार्ट मिल गया था। मीरा को मिला था देवदासी का। नृत्य था प्रधान। और राजा का पार्ट था शारदा का।

वह प्रतिमा ? आरती का मन जाने कौन से दुःस्वप्न से भर उठा—योंही प्रति वर्ष उसके घर में देवी प्रतिमा प्रतिष्ठित हुआ करती। कारीगर नहीं, वह स्वयं गढ़ती देवी की छोटी किन्तु सर्वाङ्ग सुन्दर मूर्ति। योंही प्रति वर्ष नृत्य करती वह प्रतिमा के सामने। नृत्य करती हुई शायद वह अपने को भूल जाती! विश्व को भूल जाती। शायद—शायद—है। नेत्र के समीप, हृदय मध्य में रहती मात्र वह प्रतिमा और एक ृनकी—भक्ति रस से आप्लुत।

देखते-देखते विराग से उसका जी भर उठा। यह कृति, किन्तु इसके निर्माता, उस कलाकार के हाथों में, मन, हृदय में वास्तविक कला की सूक्ष्म अनुभूति कहाँ है ? यह तो कला का एक अपमान करना है।

प्रतिमा के मुख में, नेत्रों में, अधर में जीवन का चिह्न है ही कहाँ ?

और वह नर्तकी मीरा ? भक्ति रस के स्थान में शृङ्गार रस की वीभत्स पूजा क्यों ? है यह देवदासी की पूत आरती अथवा अखण्ड अहंकार ? और वह राजा रानी ? वह तो एक जीवन्त व्यंग है। इन कला-प्रदर्शकों में वास्तविक कलाकार की चेतना, अनुभूति है ही कहाँ ?

जी उसका व्यथा से पूर्ण हो उठा—यह कला का अपमान कैसा ? उसकी इच्छा होने लगी—एक बार, केवल एक बार, शुभ्र वसन, पुष्प अलंकार पहनकर वह देवी की आरती उतारे। हृदय की भक्ति को प्रतिमा के चरणों पर चढ़ाये।

आरती ने अपने आपके प्रति आरक्त नेत्रों से देखा, फिर उस स्थान से चल दी।

धीरे द्वार पर आघात हुआ। आरती तभी-तभी रिहर्सल शेष कर आई थी। वस्त्र भी परिवर्तन न कर सकी थी। उसने द्वार खोल दिया। एक विस्मय ! यहाँ आगमन के बाद एक ऐसा विस्मय उसके लिए प्रथम बार ही तो था न ! उसने अपने को सम्भालकर शारदा को बैठाया। शारदा ही तो है न ? अपनी

आँखों पर आरती को विश्वास नहीं हो रहा था। उसने आँखें पोछ कर देखा और पुनः देखा। और तब सहम कर कहा—'बैठिये !'

शारदा बैठा फिर स्मित हास्य से बोला—'आप न जाने क्या सोचें, परन्तु—?

'कुछ नहीं, आप कहिये !'

'मुझे विस्मय है। अन्त तक अपने कौतुक, जिज्ञासा को रोक न सका। देख ही रही हैं, इसीलिए दौड़ा आया हूँ।

'किन्तु बात क्या है ?'

इस बार शारदा ने भूमिका नहीं बाँधी और कहा—'यही कि—मीरा और मैं !' संसार हम दोनों के अभिनय के पीछे पागल है। श्रेष्ठ कहा करता है। विशेषतः इस 'दुर्गापूजा' चित्र का रिहर्सल। सब का कहना है संसार का यह एक विशेष उत्कृष्ट और कलात्मक चित्र अमर रहेगा। इसके अभिनेता, अभिनेत्री विश्व-विख्यात कलाकार हैं—'

"कलाकार—?" आरती के नेत्रों के उस साकार व्यंग को शारदा ने आश्चर्य-मिश्रित अश्रद्धा से देखा।

"वही व्यंग, वही परिहास"—कह रहा था शारदा—"बस यही कहने आया था न !"

"क्या ?"

"हमारे यहाँ की नवीन अभिनेत्री आरती देवी की आँखों में हम अभिनेता-अभिनेत्रियों के अभिनय पर सदा एक ज्वलन्त अवहेलना, परिहास, व्यंग क्यों साकार देखा करता हूँ ?"

"क्यों ? किन्तु अच्छा लगना और न लगाना—यह तो मन की देन है, शारदा बाबू ! फिर मैं आपके प्रश्न का उत्तर दूँ भी क्यों और कैसे ? परन्तु आप भूल में हैं।"

'भूल में ?'

'हाँ, क्योंकि मुझे अच्छा ही लगता है आपलोगों का अभिनय। फिर भी कहूँगी, यह है मन की देन।'

"मन की देन ? परन्तु जिन कलाकारों के यशगान से देश आतुर रहा करे, उन्हीं पर परिहास से हँसनेवाली का दृष्टिकोण जानने का दुराग्रह यदि मैंने किया है तो यह स्वाभाविक ही है।"

"कलाकार ?"—पुनः एक आवरण-युक्त व्यंग।

शारदा इस बार आग की तरह जल उठा। फिर भी उसकी शिक्षा ने उसे संयत रखा। "तो आपके दृष्टिकोण से हम सब कलाकार नहीं हैं ?"

"जिनकी कला में जीवन का स्पर्श नहीं है, नहीं है प्राण —उसे कला कहा भी कैसे जा सकता है ?"

"यानी ?"

"यानी ? जानते ही होंगे कि कला रस प्रधान हुआ करती है। कला-विशेष में रस-विशेष को जीवन्त करना ही कलाकार की विशेषता है।"

"ठीक है। फिर आपका कहना है, 'दुर्गापूजा' अभिनय में इसका अभाव है।"

"हाँ, पूर्ण अभाव है। पूजा-मात्र भक्ति-रस प्रधान हुआ करती है। महाशय !"

विरक्त स्वर से शारदा ने कहा—"यह कौन नहीं जानता ? यदि एक बार सभी अभिनेताओं के अभिनय को बेवकूफी की देन मान भी लिया जावे, परन्तु देवदासी मीरा का नृत्य वह तो एक न भुलाई जानेवाली स्मृति है दर्शकों के लिए।"

"देवदासी का भक्ति-रसात्मक नृत्य ? किन्तु कहाँ है भक्ति रस ? वह तो एक अहंकार, रूप का गर्व है। वह कर्कशता, रस-बोध की अनुभूति का अभाव।"

विद्वेष घृणा से शारदा उठकर खड़ा हो गया, "अहंकार शायद हो; किन्तु अहंकार का अधिकारी वही हो सकता है जिसमें अहंकार करने की योग्यता हो।"

शारदा के इस व्यंग ने आरती के स्वर तक को रुद्ध कर दिया। और तब शारदा इस नारी के प्रति ज्वलन्त वितृष्णा लेकर चल पड़ा।

(३)

"अरे, आप आरती देवी के कक्ष में थे ? और मैं सारे कमरे, दालानों में ढूँढ़ती फिर रही थी।"—कह रही थी मीरा उस कामिनी वृक्ष से टिकी। एक हाथ उसका वृक्ष की डाल पर था, दूसरा कमर पर।

बड़े-बड़े हाल, कमरे, दालान, बीच में आँगन, आँगन में

कामिनी, चम्पा आदि के वृक्ष, आरती के विश्राम गृह के ठीक सामने वह कामिनी वृक्ष।

हाँ, तभी शारदा आरती के गृह से निकल रहा था। मुग्ध दृष्टि से उसने अपनी वाग्दत्ता पत्नी मीरा को देखा। लगा उसे जैसे स्वयं पुष्प-कन्या कामिनी की डाल थामें सामने खड़ी है।

उसने देखा और फिर देखा, तब निकट पहुँच कर बोला—"क्या कह रही थीं?"

"कह रही थी, आप आरती के पास बैठे थे और इधर डायरेक्टर साहब आपको न जाने कब से बुला रहे हैं। मैं क्या जानूँ कि इन दिनों आरती देवी यहाँ का आदर्श हो रही हैं। वरना पहले मैं वहीं खोजती।"

"आरती देवी—आदर्श हैं?"—विकृत मुख से शारदा ने कहा—"क्या कह रही हो?"

"यही कि आजकल आप आरती देवी के प्रधान भक्त हो रहे हैं।" वाक्य शेषकर मीरा ने वक्र नेत्रों से शारदा को देखा।

"किस अलैया के पीछे भटकती फिर रही हो, मीरा!"

"अलैया? नहीं, ठीक कह रही हूँ।"

"घृणा कहो, उसे मैं दुनिया में सबसे ज्यादा घृणा करता हूँ। उस जैसी अहंकारी, दम्भिका, ईर्ष्यालु को घृणा के सिवा कोई दे भी क्या सकता है? यदि उसकी बातें सुनती तो समझ सकती, मैं ठीक कह रहा हूँ या गलत?"

"सुन चुकी हूँ, जानती हूँ। वह अपने को श्रेष्ठ कलाकार

समझती है। कहती है, उसके पिता ने उसे अच्छे स्कूलों में रखकर नाच, गान, मूर्तियाँ बनाना सिखलाया था। हमलोग तो उससे कभी बात तक नहीं करतीं। परन्तु आपके लिए तो वह एक आदर्श देवी-सी बनी है न आजकल!"

शारदा हँस पड़ा, फिर गम्भीरता से बोला—"वह घृणा के योग्य-पात्र हो सकती है, परन्तु प्रिया-प्रेयसी के नहीं। हाँ, चलो, डायरेक्ट क्यों बुला रहे थे?"

दोनों हँसते, मुसकराते चल पड़े। यदि वह जानते कि उनके मुख की तृप्ति, सन्तोष की हँसी अदुखती गृह वातायन में खड़ी एक नारी के मुख की विषमता को किस प्रकार विपन्यतम कर रही है, तो शायद ही हँसते।

हाँ, सुना आरती ने दोनों की बातों को। एक-एक शब्द को। फिर भी वह मौन-मूक रही सदा की भाँति। उसकी बातों पर विश्वास करता भी कौन? संसार धनी-मानी, नामों का पक्षपाती है—सहायहीन, दरिद्र, नगण्य का नहीं। उसकी बातों पर विश्वास करनेवाला कोई नहीं है। फिर वह चुप क्यों न रहे? अपने आप सम्मान को सँभाले चुप ही क्यों न रहे?

रात्रि की नीरवता में वह नूपुर ध्वनि तब अपना अलक्त-रंजित पदचिह्न आँक रही थी—चिर दिन के लिए, उसी विश्व के आँचल में। वह ध्वनि सिनेमा-निवासी के निन्दा के स्वप्न पर यदि अपनी भी एक स्वतंत्र सत्ता रख देना चाहे तो विस्मय नहीं। सिनेमा के अधिकारी तथा डायरेक्टर आदि

से लेकर अभिनेता-गण, अभिनेत्रियाँ विमूढ़ विस्मय, मुग्ध मनः-वृत्ति लेकर एकत्रित हो गये उस ध्वनि का अनुसरण करते हुए स्टुडियों के वृहत् प्राङ्गण में। ऊपर शामियाना, सामने प्रशस्त दालान। दालान पर वही प्रकाण्ड देवी प्रतिमा और सामने आरती !

श्वेत पुष्पाभूषण भूषित। श्वेत वस्त्र-परिहिता। सिर पर और दोनों हाथों में प्रज्वलित घृत दीप लिये कर रही थी नृत्य आरती आत्म विस्मृता-सी।

नृत्य में, भाव-भंगी में तथा उन आयत लोचनों में कौन-सी श्रद्धा, कौन-सा भक्तिरस, कौन-सा आत्म-उत्सर्ग साकार था सो कौन जाने—दर्शकगण मुग्ध, पलकहीन हो रहे। प्रोप्राइटर गुनगुनाने लगा—"ऐसा कभी नहीं देखा था।"

डायरेक्टर कूद उठा—"अपूर्व ! अपूर्व !!"

और सहसा ही विख्यात अभिनेता शारदा मंत्र मुग्ध-सा पहुँच गया आरती के निकट। प्रतिमा के पादमूल से पुष्पों का हार उठाकर उसने नर्तकी के गले में डाल दिया।

आरती जैसे स्वप्न से जागी ! रन्ध्रहीन विस्मय से उसने एक बार चहुँओर की भीड़ को देखा और उसका बोधहीन शरीर देवी के पादमूल में लोट गया।

(४)

अर्थात् वृहत् देवी प्रतिमा—मानों निर्माणकर्त्ता ने उस मूर्ति में अपनी अनुभूति निचोड़कर भर दी हो। दर्शक के नेत्र उस

ओर से न लौटना चाहते। आभरण के स्थान में केवल धान, गेहूँ, जौ की बाल, पुष्प, बेलपत्र आदि के अलंकार-मुकुट। वस्त्रों के स्थान में केले पत्तों को गूंथकर व्यवहार किया गया था। वाद्य केवल शंख और घण्टा। भोजन-योजन कुछ नहीं। आडम्बरहीन शांत, भक्ति की वह पूजा।

गोबरलिप्त आँगन में, शामियाने के नीचे प्रतिमा, धूप-दीप, पुष्प, चन्दन, बेलपत्र, पुजारी और नर्तकी—देवदासी, बलिदान का स्थान शून्य, कुछ भी नहीं।

दर्शकों की भीड़ से नारी कण्ठ का विस्मय-मिश्रित परिहास ध्वनित हुआ। पुजारी के अति सन्निकट से—"तुम, शारदा-बाबू? किन्तु पुरोहित कब से बन गये हो?"

शारदा ने देवी के पादमूल में पुष्पांजलि चढ़ाई; तब नेत्र खोले। मीरा की ओर देखकर कहा—"देवी-पूजा करने के लिए समय, काल तो आवश्यक नहीं होता है, मीरा।"

"हाँ"—बोली मीरा नर्तकी आरती की ओर मुँह किये—"यह अनोखी पूजा, नग्न प्रायः प्रतिमा, वस्त्र अलङ्कार कुछ नहीं, शहनाई तक नहीं। फिर पान भोजन की कौन कहे।"

उत्तर दिया आरती ने—'बहन, १९४५ के युद्ध अवसान का यह अन्न-वस्त्रहीन भारतवर्ष, घर-घर मुट्ठी भर अन्न, गजभर कपड़े के लिए हाहाकार से पूर्ण हो रहा है। यह उसी दरिद्र हिन्दुस्तान की दरिद्रता से पूर्ण एक पूजा-भक्ति की पूजा। दुर्गा

यदि फिर कभी हमारे सोने के हिन्दुस्तान को अन्न-वस्त्र से पूर्ण कर देवेंगी तब हम भी अन्न-वस्त्र वितरण क्यों न करेंगे।"

"हूँ! किन्तु अङ्गहीन यह पूजा भी क्या पूजा है?"

"अङ्गहीन आडम्बर में नहीं, किन्तु पूजा की प्राण-प्रतिष्ठा होती है भक्ति में।"

"तर्क से पूजा की कमी पूरी नहीं की जा सकती है, आरती देवी!"

"कौन कमी?"

"बलिदान कहाँ है? बलिदान का स्थान सूना क्यों? कुम्हड़े या गन्ने आदि में से कुछ भी क्यों नहीं रखा गया है? बलिदान के स्थान में फल व कुम्हड़े का बलिदान भी तो हुआ करता है।"

"वह तो एक परम्परागत प्रथा मात्र है न! यदि मेरा मत उस प्रथा को समर्थन न करना चाहे तो इससे हानि ही क्या है?"

"तो तुम्हारे मतवाद में वह प्रथा निन्दनीय है, बहिन?"

"मैंने तो अपने मतवाद ही को स्पष्ट किया है, निन्दा या प्रशंसा की बात नहीं है। कई वर्षों से महायुद्ध के रणप्राङ्गण में मनुष्य का बलिदान चढ़ रहा है। मनुष्य के ताजे रक्त को लेकर जो होली का खेल चल चुका है उसके बाद बलिदान, हाँ, देवी प्रतिमा के सामने बलिदान का अभिनय, वही—वही, यह एक व्यंग के सिवा क्या हो सकता है? क्या उस महाबलिदान से

धरती माँ का तन कलङ्कित नहीं हो चुका है? फिर भी उसी बलिदान का अभिनयमात्र घृणित है। बस, है इतना ही।"

स्तब्ध विस्मय से 'दुर्गापूजा' चित्र के प्रोप्राइटर, डायरेक्टर आदि आरती की बातों को सुन-सुन कर रोमांचित हो रहे थे।

तब वैसा ही उतुङ्ग व्यङ्ग से कह रही थी मीरा—"तो बस इस पूजा में एक पुजारी और नर्तकी! हाँ, आप दोनों के सिवा तीसरे का प्रवेशाधिकार नहीं है?"

"क्यों नहीं?"—कहने लगा शारदा—"मेरी पत्नी आप सबको आदर से साथ लेवेंगी। मैं जानता हूँ, उनका मन अनुदार नहीं है।"

'आपकी पत्नी? आपका विवाह—किन्तु कब—किससे?" कह सकी मीरा इतना ही।

"यही आरती देवी है न मेरी पत्नी; देवी ने प्रसाद-स्वरूप इन्हें मेरे हाथों में सौंप दिया है।"

"रोक दो उस 'दुर्गापूजा' चित्र को; और सुनो मिस्टर मदन।"—कह रहा था 'दुर्गापूजा' चित्र का प्रोप्राइटर—"वह चित्र यहाँ से लिया जावे।—हाँ, यही नर्तकी आरती और इन्हीं के हाथ से बनो यही प्राणवन्त निराभरना देवीमूर्ति तथा इन्हीं के मतवादको और पुजारी इसी शारदा को। फिल्म का नाम 'दुर्गापूजा' काट दो। नाम होगा—'शारदा-आरती'।

* * * *

१९४३ की पूजा अष्टमी, सिनेमा हाल जनाकीर्ण हो रहा था। चल रहा था चित्र—'शारदा-आरती।'

मुग्ध विस्मय से कह रहा था शारदा—"किन्तु सुन्दर है वह तुम्हारे हाथ की बनी प्रतिमा, कितनी सुन्दर है वह नर्तकी, देखो आरती !"

गुनगुना रही थी आरती—"संसार अन्यायी नहीं, न्यायी है। दुर्गा बहरी नहीं, धनिकों की नहीं, गरीबों की भी है।"

और तब दर्शकों में व्याप्त था एक विचित्र आनन्द—"सफल है यह 'शारदा-आरती' चित्र।"

कोने में बैठी एक नारी वर्णहीन मूक-सी देख रही थी उस चित्र को—शायद वह मीरा रही हो।

स्मृति की पूजा

(१)

कदाचित् भीष्म का दृढ़ चित्त भी प्रतिज्ञा करने की वेला में एकबार डोल गया हो; परन्तु विनय का समाहित चित्त विचार करने की वेला में मतस्थिर करते समय रह गया था वैसे ही एक निष्ठ की समाधि लिए। सो अपनी उस निष्ठा या प्रेम को प्रतिज्ञा के बन्धन में न बाँधा उसने। उसका कहना था—मेरा विचार ऐसा नाज़ुक, कमज़ोर नहीं है, कि वह प्रतिज्ञा द्वारा शृङ्खलाबद्ध किया जाय। वह तो जैसे बालकों को जू-जू का भय दिखलाना है।

श्रावण के हिण्डोले को घेरकर सावनी-मोह रचा करती सुन्दरियों के मेले में हँसी की पिचकारी न रुकती। विनय के घर में हँसी-खुशी एवं गान का बाजार-सा लगा रहता; परन्तु उसका चित्त कभी भूलकर भी उस ओर न झाँकता। आँख कभी भूलकर भी उस ओर न उठती और पैर कभी भटककर भी आमोद के जाल में भरमना न चाहते।

कार्य की भीड़ में व्यस्त रहते विनय के दिन कटते। घर में विलासिता और हास्य रमा रहता किन्तु घर का लड़का विनय धरती की गोद में सिमटा-धरती की व्यथा। क्षत पर प्रलेप लगाता फिरता।

कपड़े पहनकर विनय दर्पण के सामने खड़ा बाल सँभालने लगा। पीछे खड़ी गुड़िया-सी बहन खिलखिला पड़ी—"भैया, तुम आज चुन्नू बन गये।"

"दुर पगली! वह मुझसे कितना छोटा है!"

"किन्तु वह भी तो कुरता ऐसा ही फटा पहनता है न!"

"फटा है?"—और तब परिहित सर्ट पर दृष्टि पड़ते ही विनय हँस पड़ा।

जल्दी-जल्दी सर्ट को उतारकर उसने फेंक दिया और बोला—"रानी, एक सर्ट जल्दी निकाल दो!"

फूलदानी के गिरने के शब्द से विनय ने लौटकर देखा, तबतक रानी बिल्ली के बच्चे के पीछे बगीचे तक पहुँच चुकी थी। आम की डाली पर झूला, झूले पर विनय की भाभी बैठी थी और पड़ोस की स्त्रियाँ उसे झुला रही थीं।

धोबी चेयर पर कपड़े रख गया था। विनय झपटकर चेयर पर से कपड़े उतार-उतारकर फेंकने लगा। अन्त में सर्ट निकली। किन्तु यह क्या? सर्ट पर मेंहदी रचे हाथ की उस छाप को देखकर विनय स्तब्ध हो रहा। हाँ, उसपर मेंहदी रचे नारी-हाथ की छाप स्पष्ट थी, जैसे श्वेत काँस के वन में सूरजमुखी की पंखुड़ियाँ एकत्र खुल पड़ी हों।

समय का विचार जाता रहा। असहयोग आन्दोलन का यात्री वह पल-पल में एक अद्भुत आलोड़न में दबने-सा लगा। उसका जी न जाने कैसा हो उठा। उसे लगा, जैसे युग-युग से उस मेंहदी-रचे हाथ की छाप की अदृश्य किन्तु स्पष्ट परिचय-लिपि अपरिचित की सीमा रेखा को लाँघकर बैठी हुई है। लगा, जैसे मेंहदी की वह छाप उसके हृदय के बहुत ही समीप जागकर बैठ रही हो—कितने ही युग से।

"जल्दी करो, विनय!"—बाहर खड़े मित्र ने पुकारा। विनय ने जल्दी से सूटकेस खोला। उस सर्ट को उसमें रखकर बन्द कर दिया। सर्ट को क्यों बन्द किया सो वह स्वयं ही नहीं समझ पाया और न समझ सकने की रुचि, प्रवृत्ति ही उसके जी में उपजी। दूसरी कमीज खींचकर निकाली और उसे पहनता हुआ चल दिया।

(२)

पवन उत्ताप और ज्वालामुखी-जैसी लू-लपटों की उपेक्षाकर वह छोटा-सा जत्था काँग्रेस के वन्दनागान में समाहित-सा द्वार-द्वार पर चन्दा माँगता फिर रहा था।

वेश्या-पल्ली के द्वारों, झरोखों, बरामदों में भीड़ जम गई। उस रूप-सी और कुरूपाओं के मेले में उच्छृंखल हँसी की जैसे समाधि-सी हो रही—सहसा नहीं, किन्तु पल-पल में। और तब भिक्षा की झोली पसारकर विनय सुरंगी के द्वार पर खड़ा हो गया।

मस्ती से झूमती सुरंगी की पायल बोली; आँखों के काजल पर मुस्कान की गुलाली छा गई ; कंठ के स्वर में प्यार का पागलपन समा रहा। "बुला उसे ऊपर !"—कहा सुरंगी ने दासी से।

बरामदे से हटकर सुरंगी कमरे में पहुँच गई। काश्मीरी गलीचे पर बैठकर उसने चाँदी के पानदान में से गुलाब-जल बसे पान के बीड़े उठाकर मुँह में डाले और तब विनय आकर द्वार पर खड़ा हो गया।

"बैठिए, खड़े कबतक रहेंगे ?"

"बैठूँ ? किन्तु देवीजी, पाँच मिनट भी मेरे लिए ज्यादा हो जायगा।"

देवीजी ? कहा न इस व्यक्ति ने देवीजी ?—सुरंगी अवाक् हो रही—वेश्या को देवीजी कहकर पुकारनेवाला यह युवक रहता किस देश में है ?

"आपके यहाँ आने का हेतु ?"—सहमकर पूछा सुरंगी ने।

"काँग्रेस नगर निर्माण के लिए चन्दा इकट्ठा कर रहा हूँ।"

उसने खिन्नता से हँसकर कहा—"आप लौट जाइये।"

"मैं ? किन्तु क्यों, देवीजी ?"

फिर भी वही देवीजी। सुरंगी का जी व्यथा-भार से नत हो गया, अपरिसीम लज्जा से वह सिमट रही।

"देवी आप किसे कह रहे हैं ?"-देर के बाद पूछा सुरंगी ने।

"आपको।"

"वेश्या और देवी ?"

विनय ने उदार दृष्टि प्रसारित की—"अपने अन्तर-निहित परिचय को आप अपने ही तक सीमित रख सकती हैं। मेरी आँखों के सामने आपका परिचय—हाँ, नारी के रूप ही में है न। बस, इतना बहुत है। नारी-मात्र को हम देवी कह सकते हैं।"

"यदि वह कलंकिनी वेश्या ही हो ?"

"जरूर। मन के प्राण में कभी जो एक देवता जाग उठता है, उसे अस्वीकार भी कौन कर सकता है ?"

बात बिलकुल नई थी सुरंगी के लिए, मोहक, महान् थी। जरा सोचकर वह बोली—"पूछती हूँ, वेश्या का पैसा काँग्रेस जैसे महान् के काम में कैसे लग सकता है ?"

"जो कि स्वयं ही महान् है उसके लिए छुआछूत का प्रश्न कैसा ?"

"परन्तु घृणित उपाय से कमाया हुआ वेश्या का पैसा—"

विनय वहाँ जमकर बैठ गया, बोला—"जो कि बृहत्तर-महत्तर है वह किसी भी प्रकार संकुचित नहीं हो सकता है ; इसलिए वह किसी एक का नहीं होता है, वह सबका हुआ करता है।"

सुरंगी के वेश्या जीवन में जैसे तीर्थ की रज सिमट रही। एकबार उसने खुशी-भरी दृष्टि से अपनी सखी-साथियों को देखा। फिर बोली—"अगर आपका कहना सच है तो इस वेश्यालय से आप प्रत्येक की श्रद्धाञ्जलि लेते जाइए। और—"

वह चुप हो रही।

"कहो, सङ्कोच कैसा ?"

"यदि हम वेश्याएँ भी उसकी सेवा करना चाहें ?"

"खुशी से। चलो बहन। मैं पथ-प्रदर्शक के रूप में तुम्हें पथ दिखलाता ले चलूँगा।"

स्नेह से एक अपनेपन की पुकार कब विनय के कंठ में भर उठी और उस पुकार में कब वेश्या-मण्डली समा रही, यह बात दोनों ओर ही रह गई दबी-सी, गुप्त-सी।

"यदि ऐसी भावना तुम्हारे मन में थी तो देर क्यों लगा दी ?"

"आज यदि पूछ ही रहे हो तुम तो मैं छिपाऊँ क्यों ? ऐसी कितनी ही कामनाएँ, भावनाएँ हम वेश्याओं के मन में नित्य उठा करती हैं और जल-बुदबुद की तरह जल के तलदेश में समा जाती हैं। उस कथा को सुननेवाला, अनुभव करनेवाला कोई नहीं मिलता। देश की सन्तान हम और देश के उस महान् से अपरिचित रखी जाती हैं। आदमी के लिए इससे ज्यादा कठोर दंड और हो भी क्या सकता है ? हमारे दिल में देश-सेवा की भावना यदि स्वाभाविक ही हो तो इसे संसार अस्वीकार भी कैसे कर सकता है ?"

"नहीं। और हमारी माँ बहनें जबतक हमारे साथ न हो लेंगी तबतक सफलता मिलना सपने की तरह झूठा है।"

सुना सुरंगी ने विनय के प्रत्येक शब्द को ध्यान से। जी उसका फूला न समाने लगा और उसका उच्छृंखल वेश्या-

हृदय उस उपविष्ट व्यक्ति के सामने श्रद्धा-भार से नत हो गया। कदाचित् ऐसा प्रथम बार ही हुआ हो।

"अपनी मण्डली के साथ चलूँगी मैं; किन्तु कब?"

"कल तैयार रहना।"

वह राजरानी की तरह ऐश्वर्य में रहनेवाली सुरंगी विनय की विदा-बेला में उठकर खड़ी हो गई। एक आत्म-सम्मान की आवेष्टनी में घिरी-घिरी वह द्वार तक चली गई। आज पहली बार उसने अनुभव किया कि दुनियाँ का वह भी एक अंश है। और उस अंश को स्वच्छ रखने का दायित्व उसी पर है।

दूसरे दिन विनय ने रमेश से कहा—"मैं उनलोगों को लेने जा रहा हूँ।"

"किन्हें?"

"जो देशसेवा में भाग लेना चाहती हैं।"

विनय की पीठ ठोंकता हुआ कहने लगा रमेश—"बड़ा काम किया तुमने। अपनी बगल में हमें जरूरत है माँ-बहनों की। है जरूरत शक्ति-रूपिनी नारी मा की। बिना उनके सहयोग के हम सफल भी तो नहीं हो सकते हैं और मुश्किल तो यह है कि वह घर का कोना छोड़ना ही नहीं चाहतीं।"

"झूठ। वह आने के लिए तैयार हैं। हम ही अवहेलना करते हैं।"

"हम?"

"नहीं तो क्या ? सुरंगी बाईजी तो यही कह रही थीं।"

विस्मय से रमेश चिल्ला उठा—"अन्त में वेश्या से सहायता ले रहे हो ?"

"हानि क्या है ? वे भी देश की सन्तान है, और देश-सेवा की अधिकारिणी हैं।"

"तुम कह क्या रहे हो ?"

"यही कि जनेऊ गले में डालकर दुनियाँ में कोई भी तो नहीं आया है, रमेश !"

"सो ठीक है। किन्तु इसका परिणाम भी तुमने सोचा है ?"

"परिणाम ?"

"वही। स्वभाव भी कहीं बदलता है ? कभी वेश्या का स्वभाव, रुचि अभ्यास भी बदल सकते हैं ?"

"पर इससे क्या ?"

"इससे क्या ? सेवाव्रत को यदि तुम उच्छृंखलता के रूप ही में देखना चाहते हो तो देखो। उनकी भाव-विलासमयी दृष्टियाँ किस नरक की सृष्टि करेंगी—इसे भी कभी सोचा है ?"

"यदि युद्ध के लिए योद्धा का मन तैयार है। यदि उसके मन में, बाँहों में ताकत है, तो दुनियाँ में ऐसी कोई भी शक्ति नहीं जो उसे रोक सके। ऐसी कोई भी विचित्रता नहीं जो उसे आकर्षित कर सके। मैं उन्हें लिवाने जाता हूँ।"

(३)

गोमती की पावन गोद में काँग्रेस-नगरी बसी हुई थी, हजारों झोपड़ियों, मकानों, दूकानों से करोड़ों दीपों का प्रकाश और

मध्यभाग में उच्च वेदी पर फहराता हुआ सुउच्च तिरंगा झण्डा। कहीं गान, कहीं विवाद, वक्तृता, क्रय-विक्रय, पान-भोजन। विराट जन-समागम से एक अपूर्व मेला। इन सबको मिलाकर कल्पित इन्द्रपुरी का एक सजीव चित्र सामने था।

स्वयंसेवकों का प्रधान अध्यक्ष विनय अपनी झोपड़ी में शीघ्रता से अपने सूटकेस के कपड़े उलट रहा था। विषय-समिति की बैठक सात बजे से आरम्भ होने को थी और अब सात बजने में कुल पाँच मिनट की देर थी। स्वयं-सेविका सुरंगी झपटी-सी पहुँची—"विनय बाबू, जरा इस आदेश-पत्र पर…"

सहसा सुरंगी की दृष्टि खुले सूटकेस पर पहुँच गई, पलभर के लिए शायद उस दृष्टि में विस्मय की निविड़ता धूमायित हो रही हो, दूसरे पल श्रावण के जल-विन्दु की तरह वह हँस पड़ी और जबतक विनय कुछ सोचे-समझे तबतक उस हँसी की आड़ से बौछार निकल पड़ी—स्मृति-चिह्न को ताजा रखने वाले और किसी एक स्मृति को सँजोग-संभालकर रखनेवाले तुम—और तुम्हीं हो देशसेवक? तुम कमजोर मन के आदमी, देश-सेवा का दम्भ भरते हो?"

"क्या?"—असहनीय विस्मय से विनय ने देखा, उस मेंहदी की छापवाली कमीज सूटकेस से निकलकर सुरंगी के हाथ तक पहुँच चुकी है। विनय की दृष्टि अटक रही उस मेंहदी रचे हाथ की ओर। मेंहदी की रंगत कुछ म्लान थी, बस इतना ही। वह सिहर उठा।

"इस स्मृति को, इस चिह्न को ताजा रखने के लिए तुम्हें उस स्मृति के चिह्न को धरोहरस्वरूप रखना पड़ गया है ?"

"क्या कहा ?"—नासमझ की भाँति कहा विनय ने।

"मैं ऐसा नहीं कहती कि स्मृति की पूजा कोई पाप है ; यह भी नहीं कहती कि आदमी आज देवता बन जावे। क्यों ? क्योंकि उस देवता की आड़ में उसका सहज, स्वाभाविक सौन्दर्य, उसका रूप बर्बाद हो जाता है और न मैं यह पूछना चाहती हूँ कि कब, कैसे और कौन से छोटे पल में यह स्मृति तुम्हारे पास अनमोल होकर रहने लगी। नहीं, कुछ नहीं। एक छोटे पल में, एक तुच्छ घटना में कैसी पहेली, कौन-सा विराट विस्मय छिपा रह सकता है, वेश्या सुरंगी उस बात को जानती है। हो सकता है, किसी गृहस्थ का, किसी वेश्या के घर का धोबी और तुम्हारे घर का धोबी एक ही व्यक्ति रहा हो। हो सकता है, तुम्हारे कपड़ों को दूसरे के कपड़े के साथ ले गया हो। और यह भी असम्भव नहीं है कि किसी कुलवधू, किसी कुमारी या किसी वेश्या ने मेंहदी-रचे हाथ को सर्ट पर रख दिया हो। हो सकता है, भूल से या परिहास से ही किसी नारी-हृदय की मस्ती इठला पड़ी हो। यह भी असम्भव नहीं कि एक कोमल हाथ की मेंहदी की छाप ने सेवक-चित्त के युवक-मन में उस पलभर की स्मृति पर रंग की पिचकारी भर दी हो। यह सभी बातें हो सकती हैं। न मैं उन्हें जानना चाहती हूँ और न समझना।"

"तो।"

"वही बात। यदि तुम्हारे मन में उस स्मृति की गहराई है। यदि श्रद्धा, विश्वास है तो यह गवाह-साक्षी क्यों? उसे सदा हरी रखने के लिए उस स्मृति को संजोगना कैसा?"

"तो?"

"फिर ऐसा कहो कि तुम्हारे मन में ताकत ही नहीं।"

"क्यों?"

"तभी कमीज को रखने की जरूरत पड़ी। बिना इस चिह्न के स्मृति जीवित नहीं रह सकती थी।"

"वही तो एक बात है सुरंगी, प्रतिज्ञा द्वारा अपनी विचार-धारा को बाँधना कापुरुषता समझता हूँ। यदि मेरे मन में ताकत है तो प्रतिज्ञा की जरूरत नहीं। यदि ताकत नहीं है तो हजारों ग्रन्थियों में बाँधने से भी लाभ नहीं। किन्तु उसमें और इसमें पड़ जाता है बड़ा अन्तर।"

"कुछ भी नहीं।"—इठलाकर सुरंगी कहने लगी—"कुछ भी नहीं। यदि मन को इस तरह समझाना चाहो तो समझाओ। लेकिन बात दूसरी नहीं है।"

"नहीं कैसे? यह है स्मृति की पूजा। आदमी के मन में सदा श्रद्धा, सम्मान की अधेली रही आती है। किन्तु मन के किसी कोने में वह उसे भरकर नहीं रख सकता है। यदि ऐसा करे तो शायद किसी एक दिन उसका मन हजारों टुकड़ों में फट पड़े। उसे चाहिए एक घर, एक आश्रय, जहाँ वह अपने

दिए हुए नैवेद्य को देख सके। पहचान सके। परिचय उसका ले सके। अपना उसे दे सके।"

"ऐसा ?"—सुरंगी एकदम चुप हो गई।

"तुमने बातों में देर लगा दी। चलो-चलो।"

वह दोनों चल दिये।

× × ×

"और विनय बाबू !"

विनय की पलकें तब नींद से झुक रही थीं। बाहर प्रकृति की तांडव लीला शेषप्राय होने को थी। कितने ही झोपड़े भूमिसात हो चुके थे। कितने ही आँधी में उड़ गये थे। एक-एक झोपड़ी में बीस-बीस आदमी रात काट रहे थे। गंभीर रात्रि में प्रदीपों का प्रकाश उज्ज्वलतर हो रहा था।

कम्बल पर पड़े-पड़े विनय ने अधखुले नेत्रों से दूसरे कम्बल की ओर देखा—"कहो, सुरंगी !"

सुरंगी उसके सिरहाने आकर बैठ गई—"इन हाथों को पहचानते हो तुम ?"

विनय ने उस अस्पष्ट मेंहदी-रचे हाथों को देखा—"क्या ?"

"जीवित को अस्वीकारकर उस मृत स्मृति को पूजना। इसे—"

विनय उठकर बैठ गया—"यह कोई वेश्यालय नहीं है, सुरंगी ! यह है पूत महासभा।"

सुरंगी रुद्ध रोष से गरज उठी—"वेश्यालय में फिर भी सेवा का स्वाँग नहीं रचा जाता, वहाँ जो कुछ होता है प्रगट रूप से। किसी वेश्या की स्मृति को पूजकर साधु का स्वाँग नहीं किया जाता।"

विनय उदार हँसी हँसा—"किंतु यदि आदमी के मन में कोई बन्द कोठरी है तो उसे बन्द ही क्यों न रहने दिया जावे? उसे उस कोठरी की सत्ता जता-जताकर अपमानित भी क्यों किया जावे? उसको उसीके लिए क्यों न छोड़ दिया जाय?"

सुरंगी पलभर नीली पड़ गई और वैसे ही कह चला विनय—"यदि किसी के हाथ में रच गई हो मेंहदी और कमीज के तन में रमकर पहुँच गई हो वह वार्ता किसी एक के निकट, और यदि उसकी बन्द कोठरी की जंजीर खुल ही गई हो कभी, तो इसके लिए सिर पीटने की जरूरत भी क्या है?"

सुरंगी वैसे ही स्थिर, धीर भाव से बैठी ही रह गई।

विनय की आँखों में नींद भर गई।

× × ×

"विदा लेने आई हूँ।"

काम करते-करते विनय ने सुरंगी की ओर देखा—"ऐसी जल्दी?"

सुरंगी चुप रही।

"इसकी क्या जरूतर थी?"

"लेकिन मुझे तो पड़ गई है न?"

"विनय कुछ सोचने लगा।

"विदा !"

"नहीं।"

"नहीं ?"—सुरंगी विस्मय से वाक्हीन थी।

"इस महासभा के प्राङ्गण में बैठकर, इस एकत्र ताकत की डेहरी में बैठकर कापुरुषता की भावना कैसी, सुरंगी ? जाओ, अपने से समझौता करो, रातभर का तुम्हें वक्त है।"

और इसके बाद विनय काम में जुट पड़ा।

सोलहा बेचल मालिनियाँ रे !

"अरी ओ मालिन !"—बाजरे पर से पुकारा प्रकाश-चन्द्र ने।

मित्र सुरेश ने धुन मिलाई—"हाँ, हाँ, चली आइयो।"

"लो—बेले के गजरे।"—मालिन रुकी, इधर उधर देखा, जब कोई न दिखा; तब वैसे ही चिल्ला उठी—"लो, बेले के गजरे, ताजे फूल, अधखिले गुलाब।"

"ओ—गुलाबी गुलाब, रंगीली मालिन, इधर-इधर।"

मालिन ने इस बार ऊपर को देखा, बोली—"लो बाबू, बढ़िया हार है, ताजे गुलाब के, डबल बेले के गजरे।"

"और ताजे हाथों से गुँथे हुए।" सुरेश ने कहा।

"ठहरो यार, पहले बुला तो लो।"

"चली आओ, बेले की रानी—उस सीढ़ी से।"

और तब इठलाती चाल से वह श्याम-श्री-सम्पन्न युवती ऊपर पहुँची। उस मुख के प्रति मुग्ध मित्रद्वय देखते ही रह गये। सुन्दरी युवतियाँ उन्होंने अनेक देखीं, अनेक से वे खेले, अनेक को उन्होंने अपने में भरमाया, किन्तु सामने खड़ी यह नारी, जिसे कि किसी प्रकार भी सुन्दरी नहीं कहा जा सकता है, परन्तु फिर भी न जाने कैसी एक मादकता व्यापी हुई है उसकी देह में, कैसा एक भोलापन है उस मुख में, कैसा एक प्यार लिपटा है उन नयनों में, जिसे देखने से प्यार करने को जी चाहता है; न जाने कैसा एक इन्द्रजाल, कैसा इठलानापन, कैसी एक खुशी !

"फूलों की रानी, जरा इधर भी तो देखो।" सुरेन्द्र ने कहा, मालिन की बड़ी-बड़ी आँखों में जैसे विस्मय का सपना छा-सा गया—"मेरा नाम फूलरानी नहीं है, बाबू।"

"तो ?"

"रङ्गीली है।"

"रङ्गीली ? बहुत ठीक। हो तो तुम रङ्गीली ही।"

तरुणी ने विमूढ़भाव से बाबू को देखा, फिर अपने को। तब बोली—"नहीं बाबू, यह नाम पड़ ही गया है।"

"रस में तुम भरी हुई हो।"

"नहीं बाबू, रस तो अंगूर में होता है।"

"और मैं जो देख रहा हूँ तुम्हारी नस-नस में रस भरा हुआ है।"

मालिन खिलखिला पड़ी—बाबू की बातें! आदमी में कहीं रस हुआ है ?"

प्रकाश ने इशारे से सुरेश को निषेध किया—"गजरे देखें। क्या मोल लगाया है ?"

"दो-दो आने। ताजे बेला हैं ? इनके फूल साहब के बँगले से चुरा लाई थी।"

"ऐसा ? और माली क्या करता है ?"

"वह ? मेरे पास नहीं रहता।"

"क्यों ?"

"दूसरी मालिन है न उसके पास !"

"फिर चोरी कैसे की तुमने ?"

"साहब के माली ने दो चोर मुझे दे दिये।"

"बच्चे हैं ?"

"नहीं।" वह शर्मा गई।

"घर में कौन-कौन हैं ?"

"बूढ़ी माँ, अन्धा बाप और मैं।"

"कितना कमा लेती हो ?"

"रोजगार मन्दा है बाबू, स्वराज ने सब धन्धा छीन लिया। बाबू लोग कहते हैं—फूल की माला पहनूँ या खद्दर की धोती ? कोई आप-जैसा अमीर मिल गया तो दो-चार बिक ही गये, नहीं तो दो आने का धन पैसे-पैसे में देना पड़ता है। सो भी सब दिन नहीं बिकता।"

"तो उस दिन क्या करती हो ? खाती क्या हो ?"

"मैं पानी पी लेती हूँ, माँ-बाप को कुछ थोड़ा-सा दे देती हूँ। न हुआ कुछ तो उपास।"

"बड़ी तकलीफ है न तुम्हें रंगीली ?"

"हाँ, बाबू !"

"लेकिन सहज ही में यह तकलीफ जा सकती है !"

"सो कैसे ?"—असत्य आग्रह से उसने पूछा।

"इस फटी-मैली साड़ी की जगह रेशमी चुनरी पहन सकती हो !"

"मैं ?"

"और काँच की चूड़ियों की जगह सोने की चूड़ियाँ !"

"मैं ?"

"पलंग पर बैठकर नौकरों पर हुकूमत कर सकती हो !"

"मैं—मैं ही ? सो कैसे बाबू ?"

"बिलकुल सहज में।"

"कहो बाबू, मैं मरी जा रही हूँ।" एक अधीर खुशी उसके अङ्ग-अङ्ग पर जैसे मचली फिरने लगी।

"सो ऐसे ! फूल का मोल करके अपना मोल करो।"

"मैं और अपना मोल ?" कहा उसने इस तरह से, जैसे कि इससे बड़ा झूठ, ऐसा एक असम्भव, दुनियाँ में रह ही नहीं सकता है।

पल भर प्रकाश ने उसे देखा, फिर कहा—"हाँ, अपना, अपने प्रेम का।"

मालिन अविश्वास से उसे देखने लगी और देखते-देखते कह उठी—"तुम झूठे हो!"

"झूठा हूँ?"

"हाँ, हां।"

"क्यों रंगीली, सो कैसे?"

"प्रेम क्या कोई सौदा है? मोल तो सौदा ही का होता है न!"

इस मूर्ख नारी के वचन को सुनकर वे ग्रेजुएट-द्वय आश्चर्य से उसका मुँह निहारने लगे।

"सौदा नहीं है। समझे न बाबू? प्रेम, प्यार, आदि यह सब कोई सौदा नहीं हैं। न कभी यह सब कभी सौदा हो सके हैं, और न कभी होंगे ही। तुम झूठे हो!"

"मैं?"—प्रकाश कहने लगा—"नहीं रंगीली, झूठी तुम! मैं अभी इसका प्रमाण दे दूँगा।"

"सो कैसे?"

"अपनी आँखें देखना चाहो, तो दिखला दूँगा।"

"तुम?"

'मैं ही रंगीली। ऐसी कितनी ही सुन्दरियों का प्रेम, प्यार मैंने पैसे के बल पर खरीदा है!"

वह देखने लगी उसे—आँखें गड़ाकर, फिर ज़रा-सा

मुसकरा दी—"साग, भाजी, कपड़े, जेवर सब पैसे से खरीदे जा सकते हैं, लेकिन प्रेम कैसे खरीदा जा सकता है ?"

"भले ही। न मानो, तुम आजमा कर देखो !"

"मैं सोचती हूँ—पैसों से खरीदे प्रेम-प्यार कैसे होते होंगे ?"

"भले ही।"

"और ऐसा हो भी कैसे सकता है ? उस चाह, प्रेम मे वह सहज बहाव आ भी कैसे सकता है ? उसमें गुलाबीपन न रहता होगा !"

"गुलाबीपन, सहज बहाव ? सो यह क्या कह रही हो रंगीली ?"

"एक सीधी बात। खरीदी हुई चाह में चाह की मिठास कैसी ? वह तो गुलामी में भरी सिमटी रहती होगी। बढ़कर फूलने वह कैसे पा सकती है ?"

सुरेश कुछ प्रतिवाद करते गया भी, किन्तु प्रकाश न जाने क्यों चुप रह गया, जी उसका जाने कैसा करने लग गया। विचारने लगा वह—खरीदे हुए प्रेम में सहज बहाव नहीं ही रहता, नहीं ही रह सकता है। गुलामीपन से वह भरा रहता है। यह नारी कह रही है—वह चाह सिमटी रहती है, सिमटी-सिमटी ! जीवन में प्रकाश ने ऐसी अनोखी बात कभी न सुनी थी। जी उसका न जाने कैसा सिकुड़ गया। एक अस्वच्छन्दता अनुभव करने लग गया प्रकाश—तो उन गत दिनों

का सञ्चय उसका क्या है ? क्या ? क्या ?—मुट्ठी भर राख, अलैया की लौ, बैशाख की क्षणस्थायी वर्षा। बस, इतना ही न ? बच रही है न एक पाई, न पाथेय, एक छोटी स्मृति भी तो नहीं। उस गुलामीपन में भरी हुई प्यार की स्मृति भी कैसी ? इस अतुल धन का स्वामी बना, अहंकार में रमा हुआ वह जिस प्रेम-प्यार को खरीदा हुआ समझे बैठा हुआ था, वह है तो एक परिहास, केवल ही व्यंग न ?

"छबीली !" सुरेश ने पुकारा।

'नहीं, रंगीली।"

"अच्छा, रंगीली ! 'तो इन बढ़ी-चढ़ी बातों को तुम अपने ही लिए क्यों न रख छोड़ो।"

"फिर मैं तुम्हें कहाँ बाँट रही हूँ, बाबू !"

"अच्छी बात है। और हमारे लिए जरा-सी मीठी हँसी, प्यार से भरी हँसी, प्रेम ही रख छोड़ो।"

"नहीं !"

"क्यों नहीं ?"

"फूल बिक सकता है, किंतु प्रेम नहीं।"

"तो गरीबी में रहना तुम्हें पसन्द है ? अकेली ही ?"

"अकेली। परन्तु मेरी चाह जो मेरे साथ है, फ़.८ अकेली कैसी ?"

"कैसी चाह ?"

"अपने माली को मैं चाहती हूँ।"

"अब भी ? या तो तुम झूठ बोल रही हो; नहीं तो अपने आपको नहीं समझतीं। जिसने दूसरी स्त्री पर अपना प्रेम लुटा दिया हो उसके लिए चाह कैसी ?"

"यही तो एक बात है, बाबू! हम दोनों का प्रेम खरीदा हुआ नहीं था, वह पैदा हुआ था—अपने आप, किसी एक दिन। और शायद इसीसे आज भी उसकी जिन्दगी बची हुई है।"

"तो तुम कहना चाहती हो, इस भरी जवानी में उसी की चाह लिये बैठी रहोगी ?"

"शायद ऐसा हो, शायद न भी हो, फिर अभी से मैं कह भी क्योंकर सकती हूँ ?"

"तो तुम यही कह रही हो न; रंगीली, कि हम दोनों को प्यार नहीं कर सकती हो ?" सुरेश ने सोने के इयारिंग पाकेट से निकालकर टेबुल पर रख दिये।

रंगीली ने उसे देखा, एक लालसा आँखों में व्याप गई, फिर आँख उन्हीं पर गड़ाये हुए बोली, "नहीं, प्रेम मैं बेंच नहीं सकती हूँ।"

"और यदि मैं उसे खरीदना न चाहूँ, यों ही माँगूँ ?"

रंगीली इठलाती-सी फूल का हार हाथ में लिये लौटने लगी—"शायद किसी दिन दे भी दूँ।"

"किसी दिन की बात जाने दो। मैं माँगता हूँ आज—आज !" दृढ़ स्वर में कहा सुरेश ने।

"नहीं।"

"नहीं ? तुम कह रही हो, नहीं ? और मैं कह रहा हूँ, हाँ।"

वह खिलखिला पड़ी—"तुम मेरे मन की बात क्या जानो ?"

"परन्तु अपने मन की बात तो जानता हूँ न ! मेरा मन तुमको प्यार करना चाह रहा है, कर ही के छोड़ेगा।"

"खबर नहीं ?" विस्मित-विराग से उसने पूछा।

"खबर नहीं ! रात हो गई है। अब कौन मुझे रोक सकता है ?"

रंगीली जोर से हँस पड़ी--"कौन ? तुम्हारा मन खुद ही।"

"मेरा मन ?"

"न मानो, देख लो !" वह हँसकर बैठ गई और गजरों—को गिनने लगी।

"रंगीली।" सुरेश ने पुकारा।

"हाँ, बाबू !"

"इतना साहस अच्छा नहीं। समझी ? हम दो है, अकेली औरत तुम क्या कर सकती हो ?"

रंगीली उठकर खड़ी हो गई—"चार गजरों का पैसा दो, बाबू !"

उसका हाथ पकड़कर जिस पल में सुरेश ने अपनी ओर खींचना चाहा उसी पल में प्रकाश आकर बीच में खड़ा हो गया—"नहीं सुरेश, जिस प्रेम में स्वतः बहाव नहीं, जिस

चाह में मिठास नहीं, खरीदा हुआ वैसा प्यार अब मुझे नहीं चाहिए। जाओ रंगीली, यह लो अपने गजरों के पैसे !"

चलते-चलते एक बार रंगीली ने कृतज्ञ किन्तु सम्मानपूर्ण दृष्टि से प्रकाश को देखा, फिर चल पड़ी।

(२)

मालिन माला बेंचती हुई नित एक बार ऊपर की ओर देखती। नित प्रकाश बाजे पर झुक पड़ता और शायद जीवन के मध्य में प्रकाश खरीदे हुए प्रेम-चाह-प्यार का योग-वियोग कर देखता, लाभ अंश में केवल शून्य ही पड़ रहा है या और कुछ ? और शायद उस हिसाब करने की बेला में मालिन का भोला मुख एक बार झाँक भी उठता।

रिमझिम रिमझिम मेंह बरस रहे थे। रंगीली उस वर्षा में भी माला बेंचती फिर रही थी। ऊपर के बरामदे से झुक-कर देखा प्रकाश ने—"रंगीली ?"

रंगीली मुसकाती पहुँच गई—'गुलाब का हार लाई हूँ, बाबू !'

'और मेरे ही लिए ?' एक आवेग से पूछा, प्रकाश ने।

'तुम्हारे ही लिए ?'

'और मेरे लिए ?' प्रश्न था सुरेश का।

मालिन जरा चुप रही, बोली, 'दो हार हैं। एक तुम ले लो न, बाबू !'

'लेकिन मुझे तो चाहिए रंगीली का रंगीला प्रेम।'

'इन गुलाब की पँखुड़ियों-सा !' रंगीली जैसे परिहास से भर उठी।

'बस वही तो, रंगीली !' आशा अश्वास से कहा सुरेश ने।

रंगीली हँसी।

'मोल कितना है ?'—पूछा फिर सुरेश ने।

'हम दुखियों को मजाक नहीं सोहता, बाबू !'—जैसे वह आँसू से भर उठी।

'मजाक नहीं, सच कह रहा हूँ।'

'औरतें प्रेम नहीं बेंचा करतीं—गरीब होने पर भी।'

'और हम भी औरतों का प्रेम नित खरीदा करते हैं।'

एक विराट-विस्मय से रंगीली ने उन दोनों को देखा—

'नित खरीदते हो ? फिर इतनों को रखते कहाँ हो ?'

'रखने की जरूरत ही क्या ? यह तो महासमुद्र है। कितनी ही नदियाँ इसमें आकर मिलती हैं। निकल जाती हैं।'

"और पीछे पुरानी होने के बाद उन्हें फेंक देते हो ? अपनी चीज—जिसे एक दिन अपना कहकर मानते हो, प्यार करते हो, दूसरे दिन उसे फेंक देते हो ? फेंकते वक्त जी में कसक नहीं उठती ? मन में अपमान नहीं जागता ? हृदय में डाह नहीं होती ? अपनी कहकर जिसे प्यार दिया था—एक दिन, उसे ही धूल में फेंक देते हो ? तुम्हारी खरीदी हुई चीज दूसरा उठाकर ले जाता है ? तुम्हारी अपनी चीज ?

"प्यार का चुम्बन जिस मुख पर आँकते हो उसी मुख पर दूसरे दिन राख मल देते हो ? शर्म नहीं आती तुम्हें ? और तुम्हीं

आदमी कहलाने को मरते हो ? लाओ, मेरे हार वापस करो ! यह हार तुम जैसे बाबुओं के लिए नहीं है।"

प्रकाश ने एक हार उठाकर अपने गले में डाल लिया।

'परन्तु रंगीली, मैं तो इसे फेंकना नहीं चाहता हूँ !'

'तुम ?'--चुप हो रही रंगीली।

× × ×

सो यह भी न जाने क्यों नित एक माला वह प्रकाश के द्वार पर लटका जाती। परन्तु यह भी तो कहना कठिन है न, कि दूसरे दिन से प्रकाश प्रेम खरीदना छोड़कर योगी-वैरागी-सा क्यों नित संध्या की प्रतीक्षा में उसी बरामदे में झुका बैठा रहता। सुरेश का कहना है, प्रकाश के सिर में पागलपन की हवा समा गई है।

मालिन का कहना है—प्रकाश बाबू भले आदमी हैं। सो प्रकाश का कहना है—मालिन के सोहला ने उसके मन को बदल दिया।

अब किसका कहना सही है, बस, समस्या यहीं पर तो है ही !

लेखक की समस्या

द्वितल-गृह की खुली खिड़की के सामने टेबुल, चेयर पर गम्भीर विचार में बैठा हुआ था, अनाड़ी। टेबुल पर डाक से आये हुए कई पोस्टकार्ड रखे थे।

अनाड़ी ने एक पत्र उठाकर पढ़ा। वही कहानी के लिए तकाज़ा था। सब पत्रों में वही एक बात—"कहानी जल्दी भेजो!" पत्र सब सम्पादकों के लिखे हुए थे। किसी पत्रिका का विशेष अंक निकलने को था, किसी का साधरण अंक, किसी का नववर्षांक। सब की एक-सी माँग—"अनाड़ी जी, शीघ्र कहानी भेजिए।"

कहानी? परन्तु ब्रेन तो आज खाली हो रहा है। एक प्लाट की भी सूझ नहीं है उस मस्तिष्क में। आखिर, बात क्या है? यह हो क्या गया है अचानक उसे?

अभी कुछ ही दिन पहले बड़े गर्व से उसने सुरेश की आशंका पर हँसते हुए कहा था—"मेरी कहानी का स्टाक चुक जायगा ? पागल हो ? इस ब्रेन में जो स्टाक भरा पड़ा है, न है उसका आदि, न है अन्त। मैं एक दिन चुक जाऊँ, लेकिन मेरी कहनी का स्टाक नहीं चुक सकता है। पद्मा नदी देखा है तुमने ? वह तोड़ती-फोड़ती, आगे-पीछे बढ़ती चली जाती है। उसका विनाश कभी भी नहीं है, चुक जाना उसने सीखा नहीं। स्वतः उत्पत्ति का बीज है न उसमें ! वह मरे तो कैसे मरे ? समझे न ? यदि अनाड़ी एक दिन मर जावे तो जाने दो। लेकिन उसकी कहानी का स्टाक नहीं मर सकता है।"

तब सुरेश परिहास से मुसकराया था। बोला था—"देखा जायगा। मैं अभी मरता थोड़े ही हूँ, कब तक और कहाँ तक लिखोगे ? एक दिन तो वह चुक कर ही रहेगा न ?" अनाड़ी ने तब उपेक्षा से उस अप्रियभाषी की ओर से मुँह फेर लिया था।

परन्तु सहसा कैसे, कब और क्यों उसका स्टाक शून्य-प्रायः हो रहा है, इसकी खबर लगी सो भी आज ही। यह किस देवता का अभिशाप है ? एक उबड़-खाबड़ प्लाट तक ब्रेन में नहीं आ रहा है ! आखिर बात क्या है ?

प्लाट, प्लाट, कहाँ है प्लाट ? अनाड़ी को उस दिन उन्माद-सा हो रहा था। कभी असीम दम्भ से कह उठता—"अजी, कमी ही क्या है ? मेरे आस-पास, सामने, पीछे प्लाट ही प्लाट भरे

पड़े हैं। हाँ-हाँ, अच्छा, उस लौकी के पेड़ ही को लो। सामान्य —याने नित व्यवहार की वस्तु को लेकर,—अजी ठहरो, ठहरो, रहता हूँ बनारस में, यहाँ प्लाट का अभाव ही क्या है? उस दुर्गा कुंड को लो। भूत-प्रेतों की कमी क्या है? और मेरी अपनी जानकारी—काँग्रेस से लेकर हर पहलू में, सो भी क्या कम है?—है! और इस हिन्दू-मुसलमान झगड़े ही को लो, जो कि आज का पहला और जरूरी टापिक है, इस पर तो एक नहीं, हजारों कहानियाँ लिखी जा सकती हैं। और गरीबी, भूखी,-नङ्गी, मरती जनता, दूसरी ओर यह पाशविक अत्याचार! प्लाट की कमी ही क्या?

नाम था उसका अनाड़ी, कब, किसने अनाड़ी नाम रख दिया, यह बात स्वयं अनाड़ी ही नहीं जानता। जानता केवल इतना कि वह एक प्रसिद्ध लेखक है। कभी दुर्भिक्ष-पीड़ितों की व्यथा से जी उसका रो उठता, कभी भिखारी की वेदना से। कभी अन्याय का विरोध, कभी कुछ, और प्रत्येक कहानी उसकी कलम की ताकत से वाङ्मय-सी हो उठती। मासिक, साप्ताहिकों में कहानियाँ निकलतीं। कभी उन्हें वह पढ़ लेता। बस!

छोटा-सा मकान, छोटी-सी गृहस्थी। एक अकेला वह, स्वयं रोटी बनाता, कहारिन बासन माँज देती। इत्र की छोटी दूकान। प्रातः संध्या दूकान खोलकर बैठ जाता। कुछ थोड़ी-बहुत बिक्री हो जाती, द्विपहर और रात्रि में वह गल्प लिखता।

बस, इतने ही में वह तुष्ट, सन्तुष्ट रहता। कभी भोजन बनाता, कभी चने, भुर-भुरे खाकर पानी पी लेता। बूढ़ी कहारिन दूध दुहकर रख जाती। गाय खूँटी से बँधी रहती, पूर्ण तथा पुष्टि-कर भोजन के अभाव से थोड़ा ही सा दूध दे देती। बस, इतनी थी अनाड़ी की गृहस्थी।

(२)

कई दिनों तक प्लाट के लिए अनाड़ी की रात्रि की निद्रा जाती रही, परन्तु फिर भी कोई प्लाट नहीं सूझा। टेबुल के सामने बैठा हुआ अनाड़ी चिट्ठी लिख रहा था। किचकिचाने की आवाज से उसने सिर उठाकर उधर को देखा।

गली के उस पार मिट्टी का द्वितल-गृह, दो-मंजिले के सामने अधटूटा-सा बारएडा, कई बन्दर उसमें बैठे थे और उसके देखते ही देखते एक मोटा बानर कमरे के अन्दर घुस गया एवं छोटी टीन की सन्दूकची घसीट कर लाया। तब परम आनन्द, उतावली से सब बन्दर उस पर झुके, अनाड़ी देखकर विस्मित हुआ—मनुष्य की भाँति बानरों की बुद्धि-मानी को।

दैववश सन्दूक में चाभी शायद लगी न रही हो, अनायास बानर ने उसका पल्ला खोला और एक पोटाली उसमें से निकालकर कूदता-फाँदता वह मोटा बानर चल दिया। चला सो और कहीं नहीं, उसीके घर की छत पर। अनाड़ी ने जल्दी से द्वार बन्द कर लिया। बनारस के बन्दर बड़े ही उत्पाती

होते हैं, अभी उसके कमरे में घुस आवेंगे और कागज-पत्र सब बर्बाद कर तब कहीं मानेंगे।

खुशी से भर उठा अनाड़ी—मिल गया, मिल गया उसे प्लाट। काल्पनिक नहीं, वास्तविक प्लाट, बानरगण, पोटली लेकर उनका भागना आदि। इतना क्या कम है? रात में सोच लेगा वह एक जबरदस्त प्लाट और प्रातःकाल ही लिखना शुरू कर देवेगा।

दूसरे दिन का प्रातःकाल आया। एक कलह के रूप में सामने के मकान में तुमुल कलह-चलह चल रहा था। कदाचित् उस मकान में कई किरायेदार रहते हों। कोई स्त्री किसी स्त्री से कह रही थी—"तू ही ने चुराया।"

लिखने को बैठा था अनाड़ी, परन्तु कलह के उच्च शब्द से उसका चित्त अव्यस्थित हो उठा। विरक्त अनाड़ी ने खिड़की बन्द कर दी। थोड़ी देर के बाद कोलाहल तीव्रतर हुआ।

अनाड़ी ने सुना, कोई किसी से कह रहा है—"इस टीन के बक्से में सोने के जेवर थे। मैं गंगास्नान से लौटकर जब आई तब इस बक्से को खुला हुआ पाया, जेवर सब गायब थे।"

टीन के बक्से के नाम से अनाड़ी मनोयोग से सुनने लगा—

कोई प्रश्न कर रहा था—"अच्छा कल रात को दावत से लौटकर तुमने जेवर इसी में रखे थे?"

"हाँ, रात हो गई थी, सोचा सबेरे सन्दूक में रख दूँगी। एक रूमाल में जेवर बाँधकर इसी में रखा था।" पोटली के

नाम से अनाड़ी सचेतन हुआ, अवश्य बन्दर उस जेवर की पोटली को ले भागा, मुफ्त में दूसरी स्त्री पर चोरी लग रही है। वाह, वाह, बड़े मजे का ठाट है। सोचने लगा अनाड़ी—परन्तु मैं कह क्यों न दूँ अपनी आँखों-देखी सच बातें ? हाँ, जरूर कहूँगा।

अनाड़ी ने खिड़की खोली। पुलिस ने उस मकान को घेर रखा था। इतनी देर में समझा अनाड़ी—तब तो ज्यादा रुपए का सामान बन्दर ले भागे।

पुलिस से वह स्त्री कह रही थी—"जड़ाऊ नथ थी, सोने के कड़े, बाजू-बन्द, और गले का फूलहार, वह भी जड़ाऊ, और अगूँठी, कङ्गन।"

"यह सब जेवर तुम्हारे थे ?"

"नहीं, मेरी ननद के।"

"फिर तुम्हारे पास कैसे आये ?"

"मेरी ननद की लड़की की शादी है, यह सब जेवर साफ करवाने के लिए आये थे।"

"जहाँ तुम्हारी ननद रहती है, वहाँ सुनार नहीं है ?"

"वह जमींदार के घर देहात में ब्याही है। अमीर हैं; मेरी अक्ल में पत्थर पड़ गया, न उनके जेवर पहनकर जाती, न चोरी जाते। देहात में सुनार नहीं है। हाय राम, मैं तो लुट गई।"

अनाड़ी ने सोचा, यह लोग मुफ्त में किरायेदारों को तंग करेंगे। सच बात पुलिस से वह क्यों न कह दे ?

अनाड़ी खिड़की से हटा और छत पर से सब बातें पुलिस से कहने के लिए जल्दी-जल्दी सीढ़ियाँ तय करने लगा।

और छत पर पहुँचकर वह भय, आशंका से वर्णहीन हो गया। रूमाल फटा हुआ पड़ा था, और नत्थ, कड़े, बाजूबन्द आदि सब छत पर बिखरे हुए पड़े थे। पलभर में वह सब कुछ समझ गया। उस रूमाल में भोज्य वस्तु न पाकर बानर सब छत पर फेंक कर चल दिये हैं।

अब ? अब तो चोर वही कहलावेगा न ? कोई उसकी बातों पर विश्वास थोड़े ही करेगा। उसके बाद ? वही जेल। हाय-हाय, यह क्या हो गया ? कहाँ वह एक प्रतिष्ठित लेखक और कहाँ गन्दा जेलखाना। दुनियाँ के सामने मुँह दिखलाने योग्य भी न रहेगा।

उस घर में कोलाहल एक-सा था। किसी ने उसके घर की जंजीर खटखटाई। अनाड़ी सिहरा। फिर जल्दी-जल्दी सब गहने बटोर कर पाकेट में रखा। तब चोर की तरह काँपता, डरता कमरे में पहुँचा, सन्दूक खोलकर कपड़ों के नीचे जेवरों को दबा दिया और सन्दूक में डबल ताला लगाया। किन्तु फिर भी चैन कहाँ ?

× × × ×

अनाड़ी की कहानियों की दुनियाँ उजड़-सी रही थी। एक विप्लव उपस्थित था उस दुनियाँ में। जहाँ पहले रात के एकान्त में प्लाट सोचा करता था वहाँ आतंक, भीति व्यापी रहती है उसके मस्तिष्क में। इन जेवरों को वह क्या करे ? रख भी

नहीं सकता था और फेंक भी नहीं सकता था। रख ले दूसरे की चीज ? इस भावना से उसकी आत्मा घृणा से मुँह फेर ले। और फेंक दे ? उससे लाभ ? कोई भी उठा ले जावेगा। फिर इससे क्या ? किन्तु यह पीले-पीले रंग का सोना ? एक मोह उसके चित्त को आच्छन्न कर लेता।

तो दूसरे शहर में ले जाकर इन्हें बेंच डाले ? नहीं-नहीं। छिः, यह सब दूसरे की चीजें बेचने का उसे कौन-सा अधिकार है ? तब प्रश्न-उत्तर होने लगता मन में—क्या मैंने चोरी की थी ? वह तो संयोगवश बन्दर डाल गये। फिर मैं क्या करता ? तो जिनकी चीज है उन्हें वापस कर दी जावे ? वाह-वाह, वापस करने जाकर क्या वह स्वयं चोर बने ? बन्दर की बात कौन विश्वास करेगा ? बस, अपने पास रखने के सिवा दूसरा कोई चारा नहीं। सो यह मकान ? अजी हटाओ भी इसे, यहाँ रहने से बस, वही बन्दर की बात याद आ-आ कर बेचैन कर देती है, इसे छोड़ दिया जावे। बनारस में मकानों की कमी ही क्या है ? जंजीर खटकने लगी।

अनाड़ी ने द्वार खोला। तार था, तार लेकर उसने खोला, भाई का तार था। अनाड़ी की शादी तय पा चुकी थी, भाई ने उसे यथा-शीघ्र बुलाया था।

अनाड़ी अवाक् रहा। उसकी शादी भाई ने तय कर ली और उसे पता तक नहीं ? लिखी-पढ़ी है ? काली है या गोरी ? गाना-वाना कुछ जानती है, यह सब कुछ भी वह जान-समझ न पाया। और भाई ने शादी तय कर ली, वाह-वाह !

चिढ़कर अनाड़ी ने बिस्तर बाँधा। घर तो वह पहुँचे फिर भाई से तो नहीं, किन्तु भाभी से निपट लेगा। वह कोई मिट्टी का घड़ा थोड़े ही है कि जहाँ जी चाहा वहाँ लुढ़का दिया।

फिर एक बात से उसे सन्तोष और निश्चिन्तता मिली। चलो, इन जेवरों से तो छुट्टी मिलेगी। इन्हें कहाँ फेंके, किसे दे? बस, अब इसका सहज में निपटारा हो जायगा। बस, उसी नई दुलहिन को दे देगा। चलो छुट्टी, चोरी? अपराध! किन्तु कैसे? बानर उठा लाये, निष्पाप होकर उसने एक को दान किया। फिर चोरी कैसी? यदि उन्हें बेंचकर वह कोई अपने निजी काम में वे रुपये लगाता तो दूसरी बात थी। अब यही ठीक है।

× × × ×

सुहागरात की सुहागिन रमा घूँघट में मुँह छिपाकर बैठी थी, और अनाड़ी खुशी भरे मन से उसे जेवर पहना रहा था। हाँ, बानर के दिये वही कड़े. बाजूबन्द इत्यादि। अपने हाथों पहना रहा था अनाड़ी।

माथे पर टीका पहनाते वक्त रमा के नेत्र उस पर पड़े। और तब वह सहसा कह उठी—"देखूँ!"

देखा और देखते-देखते नववधू की लज्जा पलभर अन्तर्ध्यान हो गई। उसके मुख में कठोरता व्याप गई। पति-प्रदत्त अलंकार उसने उतार लिया और फिर मनःयोग से देखने लगी।

रमा उठी, द्वार खोलकर निकल गई। अनाड़ी विस्मित हुआ, नववधू का यह कैसा व्यवहार है ? वह बाहर से लौटे तो उससे पूछा जावे। किन्तु रमा फिर न लौटी।

हाँ, वह अनाड़ी का साला था जो बिना भूमिका किये ही पूछ रहा था—"जो जेवर तुमने रमा को दिये वह कहाँ और किस सुनार के बनवाये है ?"

सो अनाड़ी को अलंकार मिलने का इतिहास कहना ही पड़ गया। एक उच्च हँसी, इसके बाद उस गृह में हँसी बाढ़-सी आ पहुँची।

× × × ×

अनाड़ी के कन्धे से टिकी खिलखिला पड़ी रमा—"अपनी ही कहानी लिख रहे हो ?"

चकित-विस्मिय से अनाड़ी ने देखा—साट खोजता, ढूँढ़ता थककर जब वह टेबुल पर बैठा तब लिख डाला उसने अपनी ही बन्दरवाली कहानी।